

चौथा अध्याय

आपातकालोत्तर आलोचना: किसान, बाजारवाद, पर्यावरण एवं

साम्प्रदायिकता संबंधी विमर्श

1980 के बाद तीव्र गति से हुए राजनैतिक, आर्थिक एवं सामाजिक बदलावों ने किसान को बेबस एवं असहाय बनाया, बाजार का विस्तार किया, पर्यावरण का हास किया और साम्प्रदायिकता को बढ़ाया। बाजार के प्रभाव तथा विरोध में सक्रिय आलोचना ने किसानों के संकटों, संघर्षों को ऊपरी तौर पर रेखांकित किया। आलोचना ने पर्यावरण हास के प्रति चिंता जाहिर की तथा साम्प्रदायिक शक्तियों को सीधे - सीधे फटकारा। आलोचना ने किसान के प्रति सहानुभूति प्रकट की, पर्यावरण को बचाने के लिए जागरूकता फैलाई, तो बाजारवाद एवं साम्प्रदायिकता के बर्बर तन्त्र की शिनाख्त की है।

4.1 किसान विमर्श

1980 के बाद आई किसान विरोधी नीतियों ने लाखों किसानों को आत्महत्या करने के लिए मजबूर किया। अत्यधिक कर्ज का बोझ, बढ़ती महंगाई, भूमि अधिग्रहण तथा विस्थापन ने किसानों के लिए संकट पैदा किया। इस संकट से जूझते किसानों ने समय - समय पर अनेक आंदोलन किए, जो आज भी अलग - अलग रूपों में जारी हैं। किसानों के संकट तथा संघर्षों ने साहित्य में किसान विमर्श का आकार लिया।

4.1.1 किसान आंदोलन: सामान्य परिचय

किसान का इतिहास संघर्ष तथा प्रतिरोध का इतिहास रहा है। स्वतंत्रता से पूर्व किसानों ने अंग्रेजों, महाजनों, सूदखोरों, जमींदारों के विरुद्ध लड़ाइयां लड़ीं। 1830 - 31 में मैसूर के किसानों ने एक सफल विद्रोह किया, “1836 में पहला मोपला विद्रोह हुआ। इसके बाद के 18 वर्षों में

मोपलाओं के कुल 22 विद्रोह हुए”¹ दक्षिण मालाबार के इर्नाडु और वल्लनाडु ताल्लुकों में ये विद्रोह हुए।

1855 - 56 में संथाल आदिवासी किसानों ने साम्राज्यवाद तथा महाजनों से मुक्ति के लिए संगठित, सशस्त्र तथा व्यापक आन्दोलन चलाया, “इससे पहले कि विद्रोह को पूरे तौर से दबाया जा सका, 30 से 50 हजार विद्रोहियों में से 15 से लेकर 25 हजार तक को कत्ल कर दिया गया। जुलाई और अगस्त के दिनों में राजमहल की पहाड़ियां खून से नहलाई गईं”² इस संघर्ष में हजारों किसान मारे गए।

1857 में अवध तथा बिहार के किसानों ने अंग्रजों के खिलाफ विद्रोह किया। बंगाल के काश्तकारों को अंग्रेजी सरकार द्वारा नील की खेती करने के लिए मजबूर करने पर 1859 में बंगाल के किसानों ने विष्णु विश्वास तथा दिगम्बर विश्वास के नेतृत्व में विद्रोह किया तथा नील की खेती करने से इन्कार किया। यह आन्दोलन 1860 तक पाबना, ढाका, खुलना, दीनाजपुर आदि क्षेत्रों में फैल गया, परिणामस्वरूप 1860 तक नील के सभी कारखाने बंद हो गए। 1874 - 75 में महाराष्ट्र का दक्कन विद्रोह तथा 1879 - 80 में फड़के आन्दोलन हुआ।

19वीं सदी में चम्पारण के गौरै बागान मालिकों ने किसानों से एक समझौता किया, जिसमें, “किसानों को एक बीघा खेती के लिए तीन कट्टे नील बोना पड़ता था। इसे तिनकठिया प्रथा कहते थे”³ पहले विश्वयुद्ध के दौरान नील व्यापार में आई मंदी के कारण गौरै जमींदारों ने किसानों पर आर्थिक बोझ लाद दिया, जिसके विरुद्ध किसानों ने विद्रोह किया। 1918 में गुजरात में लगान वृद्धि के खिलाफ गांधी जी तथा वल्लभ भाई पटेल के नेतृत्व में किसानों ने आन्दोलन किया। विजय सिंह पथिक के नेतृत्व में बिजोलिया के किसानों ने 1918 में छियासी प्रकार के लगानों लाटा, कूता एवं तलवारबंदी आदि से मुक्ति के लिए संघर्ष किया।

¹ एल. नटराजन, भारत के किसान विद्रोह (1850 - 1900), स्वर्ण जयंती प्रकाशन, दिल्ली, पृष्ठ - 104

² वही, पृष्ठ - 43

³ रामाज्ञा शशिधर, किसान आन्दोलन की साहित्यिक जमीन, अंतिका प्रकाशन, गाजियाबाद, पृष्ठ - 14

1920 - 22 में यूपी किसान सभा तथा बाबा रामचन्द्र की रूरे सभा ने मिलकर सामन्ती व्यवस्था के खिलाफ लड़ाई लड़ी। इसी समय मदारी पासी की अगुवाई में खेतीहर मजदूरों का 'एका' आन्दोलन चला। 17 अक्तूबर 1920 को बाबा रामचन्द्र दास ने 'अवध किसान सभा' के किसानों को बेगार न करने तथा जमीन से बेदखल न होने के लिए तैयार किया, "आन्दोलन के दौरान पुलिस ने कई बार किसानों की भीड़ पर गोलियां चलाई। किसानों ने भी कुछ जगहों पर पुलिस के सिपाहियों, ताल्लुकदारों या जमींदार के आदमियों की हत्याएं की।"¹ आंदोलन के दौरान झूठे इल्जाम में फंसाकर बाबा रामचन्द्र दास को गिरफ्तार कर लिया गया, उनकी रिहायी के लिए 10 सितम्बर को दस हजार किसानों ने जेल को घेर लिया तथा 24 घण्टे के अन्दर ही बाबा रामचन्द्र को रिहा करवाकर ही दम लिया।

किसान आन्दोलन को व्यापकता प्रदान करने में स्वामी सहजानंद सरस्वती का अप्रतिम योगदान है। 1936 में वे अखिल भारतीय किसान कांग्रेस के अध्यक्ष चुने गए। जिसमें कांग्रेस, सोशलिस्ट, वामपंथी, कांग्रेस दक्षिणपंथी सभी शामिल हुए, जिन्होंने जमींदारी प्रथा के विरुद्ध आन्दोलन चलाया। 1936 से 47 के दौरान स्वामी सहजानंद के नेतृत्व में किसान आन्दोलन उग्र रूप में चला।

1946 में तेभागा में किसानों ने विद्रोह किया। आजादी के बाद भारत में छिटपुट जगहों पर आन्दोलन होते रहे। व्यवस्था के खिलाफ लगातार संघर्ष जारी रहा, जो 1980 - 90 तक शिखर पर पहुंच गया। इस दौर में महाराष्ट्र में शरद जोशी, कर्नाटक में प्रो. एम. डी. नज्जुदास्वामी, पश्चिम उत्तर प्रदेश, हरियाणा, पंजाब में महेन्द्र सिंह टिकैत के नेतृत्व में किसानों के बड़े - बड़े आन्दोलन हुए। किसानों के शोषण, फसलों का न्यूनतम समर्थन मूल्य, बढ़ते कर्ज, खाद - बीज पर मिलने वाली रियायतों में कमी तथा सरकार की किसान विरोधी नीतियां किसान आंदोलन के मुख्य मुद्दे रहे। 1990 के बाद पश्चिम बंगाल में सिंगूर का किसान आन्दोलन, हरियाणा के गोरखपुर, कैथल में भूमि - अधिग्रहण के खिलाफ किसान आन्दोलन हुए। पूरे देश में भूमि अधिग्रहण और सेज के खिलाफ जगह - जगह पर किसानों ने विद्रोह किए।

¹ वीरभारत तलवार, किसान राष्ट्रीय आन्दोलन और प्रेमचन्द: 1918 - 22, वाणी प्रकाशन, दिल्ली, पृष्ठ - 97

हरित क्रान्ति की सीमित खुशहाली के दिन जल्द ही लद गए और विश्व बैंक की भूमिका भी बदलने लगी, “जिस विश्व बैंक ने पहले नई टेक्नोलाजी के प्रचार - प्रसार के लिए सभी आवश्यक उपादान उन्नत बीज, रसायनिक खाद, कीटनाशक दवाइयाँ, सिंचाई, बिजली, डीजल, आधुनिक कृषि यन्त्र सरकार द्वारा सस्ते अनुदानयुक्त देने की सिफारिश की थी, उसी ने रंग बदल लिया। वर्ष 1991 के बाद विश्व बैंक और अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष के निर्देशन में भारत सरकार ने अनुदानों को कम करते हुए उन सारे उपादानों को महंगा करने की नीति अपनाई”¹ महंगाई की मार तथा खेती के घाटे ने किसानों को पलायन के लिए मजबूर किया।

विश्व व्यापार संगठन की स्थापना के साथ खुले आयात की नीति के चलते कृषि उपज के सस्ते आयात ने भारतीय किसानों की कमर तोड़ दी। बढ़ती लागत और कृषि उपज के घटते दामों के दोनों पाटों के बीच भारतीय किसान बुरी तरह पिसने लगे। खेती का घाटा तेजी से बढ़ने लगा और किसान कर्ज में डूबते गए। संकट इतना घना हो गया कि देश के कई हिस्सों में किसान कोई चारा ना देख बड़ी संख्या में आत्महत्या करने लगे।

भारत सरकार के राष्ट्रीय अपराध रिकार्ड ब्यूरो द्वारा प्रस्तुत आंकड़े के अनुसार, “1995 से 2010 तक 16 वर्षों में दो लाख छप्पन हजार नौ सौ तेरह किसानों ने आत्महत्या की।”² किसानों की आत्महत्या की संख्या इससे भी कई गुणा होगी, जो किन्हीं कारणों से इन आंकड़ों में नहीं है। खेती के संकट से जुझते किसानों की आत्महत्या की यह संख्या बढ़ती जा रही है। लगातार और सशक्त आन्दोलनों के बावजूद किसानों की स्थिति में विशेष सुधार नहीं हुए। वैश्वीकरण की नीतियों ने किसान के संकटों को ओर अधिक बढ़ा दिया है तथा किसान आन्दोलन को भी कमजोर किया है।

किसान का मुख्य व्यवसाय खेती है, खेती के अलावा पशुपालन तथा बागवानी का काम भी लगभग प्रत्येक श्रेणी के किसान करते हैं। पशुधन किसान के जीवन का मुख्य हिस्सा है। उसी से वह अपने दैनिक जीवन की बहुत सी जरूरतों को पूरा करता है। सब्जियां तथा फूल लगाने का काम

¹ किशन पटनायक, किसान आन्दोलन: दशा और दिशा, राजकमल प्रकाशक, दिल्ली, पृष्ठ - 7

² 29 अक्टूबर 2011 को 'द हिन्दू' में छपे पी. साईनाथ के लेख से

भी अधिकतर किसान करते हैं। जिनके पास भूमि की बहुत बड़ी - बड़ी जोते हैं और जो स्वयं खेती नहीं करते बस जमीन के मालिक होते हैं वे जमींदार कहलाते हैं। जमींदार किसान की श्रेणी में नहीं आते। जमींदार के अलावा किसान की अलग - अलग तीन श्रेणियां हैं। जिसमें सामान्य किसान, सीमांत किसान तथा खेत मजदूर शामिल हैं। सामान्य किसान के पास अपनी जीविका चलाने लायक भूमि होती है जिस पर खेती करके वह अपना जीवनयापन करता है। सीमांत किसान वे किसान हैं जिनकी भूमि की जोत बहुत ही छोटी या लगभग खत्म होने के कगार पर है, ये किसान खेती के साथ कुछ अन्य काम करके अपना जीवन चलाते हैं। तीसरे वे किसान हैं जो काम तो खेती का ही करते हैं पर उनके पास अपनी जमीन नहीं होती, ये खेतमजदूर होते हैं। इनकी स्थिति सबसे खराब होती है, जी - तोड़ मेहनत के बाद भी इन्हें पेटभर अनाज नहीं मिल पाता और ना ही किसान को मिलने वाली रियायतें या मुआवजा ही इनको मिल पाता है।

किसान परिवारों में महिला अपने खेत में हाड़ - तोड़ मेहनत करती हैं जबकि किसान के नाम पर पुरुष किसान की छवि ही आंखों के सामने आती है। सुबह से शाम तक घर तथा खेत में काम करने वाली महिला को किसान के रूप में देखा ही नहीं जाता है। उसके नाम ना खेत है ना ही खाते और ना ही उसे फसल का मूल्य या खेती संबंधी लाभ मिलते हैं। उल्टा अधिकतर क्षेत्रों में पूरा साल खेत का काम महिला करती है और फसल पर अधिकार उसके पति का होता है। महिला किसान की पहचान होना तथा उसे किसान समझा जाना जरूरी है।

4.1.2 किसान संबंधी साहित्य एवं आलोचना

किसान के जीवन, अनुभव, स्वप्न तथा संघर्ष को व्यक्त करने वाला साहित्य किसानी साहित्य है, जिसमें किसान लेखक तथा किसानी जीवन से जुड़े या सहानुभूति रखने वाले लेखक शामिल हैं।

भारतीय समाज तथा अर्थव्यवस्था का आधार किसान हमेशा से किसी - न - किसी रूप में साहित्य में उपस्थित रहा है। दिन रात मेहनत करके सबका पेट भरने वाले किसान की स्थिति से रचनाकार प्रभावित हुए बिना नहीं रह सके। किसान के सुख - दुख तथा समस्याओं को मध्यकाल

के प्रतिनिधि कवि तुलसीदास के काव्य में अलग - अलग रूपों में किसान की उपस्थिति है। कबीर तथा सूरदास के साहित्य में भी किसान की उपस्थिति रही है, “भक्तिकालीन कविता के भीतर किसान कविता तथा किसान से सहानुभूति रखने वाली दोनों तरह की कविताएं मौजूद हैं।”¹

ब्रिटिश उपनिवेशवाद से पूर्व घाघ, डाक तथा भड्डरी की सूक्तियां किसान जीवन में बहुत लोकप्रिय रहीं। बाद में मुकुंदलाल गुप्त (कृषि रत्नावली), ग्रियर्सन (बिहार पिजेंट लाइफ), बी. एन. मेहता (युक्तप्रांत में कृषि संबंधी कहावतें) आदि ने घाघ, डाक तथा भड्डरी की सूक्तियों का संकलन किया। इनकी सूक्तियां अवधी, भोजपुरी, मगही, मैथिली, मारवाड़ी आदि भाषाओं में दोहा, चौपाई छंदों में प्रचलित रही।

आधुनिक काल के रचनाकारों ने किसान के जीवन पर अनेक रचनाएं लिखीं। भारतेन्दु हरिश्चंद्र ने किसान के समर्थन में तत्कालीन अर्थशास्त्र की समीक्षा लिखी। प्रतापनारायण मिश्र ने ‘ब्राह्मण’ पत्र में ब्रिटिश व्यवस्था के सामने ‘किसान और किसानों की बर्बादी’ पर टिप्पणी की। मिश्र जी ने किसान की जर्जर हालत तथा बैलों की कमी के बारे में चिंता व्यक्त की। बालमुकुंद गुप्त ने अपने काव्य किसान की दुर्दशा के प्रति संवेदना में व्यक्त की। गुप्त जी की ‘टेसू’ कविता में, “तत्कालीन आयोग के मुखिया लार्ड कर्जन की किसान विरोधी नीति की कड़ी आलोचना है।”² प्रेमघन ने ‘जीर्ण जनपद’ में किसानों की दुर्दशा तथा उसके कारणों का विस्तृत विश्लेषण किया।

महावीर प्रसाद द्विवेदी ने ‘सरस्वती’ पत्रिका में भारतीय किसानों की बर्बादी तथा जमींदारों के शोषण पर कई निबंध प्रकाशित किए। ‘सरस्वती’ में ही ‘आर्त कृषक’, ‘जाड़ा और निर्धन’, ‘भारतीय कृषक’, ‘वर्तमान दुर्भिक्ष’ आदि किसान जीवन पर केन्द्रित कविताएं छपीं। मैथिलीशरण गुप्त ने ‘किसान’ खण्डकाव्य लिखा, जिसमें किसानों तथा मजदूरों के जीवन का लेखा - जोखा प्रस्तुत किया गया। किसानों के जीवन पर केन्द्रित सहजानंद सरस्वती की ‘जमींदारी उठा दी जाए’, ‘बकाशत की लड़ाई’ तथा ‘किसान आंदोलन क्यों और क्या’, राहुल सांकृत्यायन की ‘दिमागी

¹ रामाज्ञा शशिधर, किसान आंदोलन की साहित्यिक जमीन, अंतिका प्रकाशन, गाजियाबाद, पृष्ठ - 49

² वही, पृष्ठ - 63

गुलामी', 'तुम्हारी क्षय' आदि पुस्तकें आई। प्रेमचंद के साहित्य में किसान इतने विस्तृत रूप में आया कि उनके साहित्य की पहचान ही 'किसानी साहित्य' के रूप में होने लगी।

हिंदी साहित्य में आजादी से पहले तक की मुख्यधारा के अनेक रचनाकारों ने किसान जीवन पर लेखन किया। गया प्रसाद शुक्ल स्नेही, दिनकर, निराला, नागार्जुन, नरेन्द्र शर्मा, त्रिलोचन, केदारनाथ अग्रवाल आदि की रचनाओं में तत्कालीन व्यवस्था के दमन, लूट, हिंसा आदि के चित्र हैं, जिनसे किसान प्रत्येक रूप में प्रभावित हुआ है।

वर्तमान में जिस रूप में उदारीकरण - निजीकरण की नीतियों के कारण किसान का संकट बढ़ रहा है उस रूप में समकालीन साहित्यकारों ने उसका नोटिस नहीं लिया है। लेखक अखबार में लाखों किसानों की आत्महत्या की खबर पढ़कर सहानुभूति या फैशन के तौर पर चार पंक्तियां लिखकर संतोष पा रहे हैं। साहित्यकार का किसानी जीवन से सीधा सरोकार खत्म होता जा रहा है जिस कारण उसके जीवन का यथार्थ साहित्य में नहीं आ रहा। साहित्य में किसान की अनुपस्थिति के बारे में मैनेजर पाण्डेय लिखते हैं, "लगता है कि भारतीय किसानों की इतनी बड़ी संख्या में आत्महत्या की भयानक खबर अभी पूरी तरह हिंदी साहित्य की दुनिया में नहीं पहुंची है, क्योंकि अभी हिंदी में किसानों की आत्महत्या पर इतनी और ऐसी कविताएं या कहानियां नहीं लिखी गयी हैं जो पाठकों को बेचैन और आंदोलित करें। वैसे पिछले दो दशकों में हिंदी साहित्य का लगातार शहरीकरण हो रहा है। ऐसे में गांवों और किसानों की दुर्दशा और तबाही की चिंता का कम होना समझ में आता है।"¹ किसानों की भयावह सामाजिक स्थिति तथा साहित्य में उनकी अनुपस्थिति चिंतनीय है। देश की 60 प्रतिशत आबादी की साहित्य में उपस्थिति एक प्रतिशत हो तो साहित्य में किसानी विमर्श को समझना कठिन न होगा।

क्षेत्रीय साहित्यकारों की रचनाओं में किसानी जीवन के संकट कुछ हद तक जरूर अपनी जगह बना पाए हैं। कुछ साहित्यकारों की रचनाओं में किसान के संघर्ष तथा उनकी अनदेखी के प्रति विद्रोह है, लेकिन यथार्थ रूप में किसान के संकटों से ज्यादा उसके कामगर रूप का चित्रण

¹ मैनेजर पाण्डेय, भारतीय समाज में प्रतिरोध की परम्परा, वाणी प्रकाशन, दिल्ली, पृष्ठ - 146

साहित्य में ज्यादा होता आया है। हल चलाते किसान, लहलहाती फसलों की जगह अब कर्ज का बोझ, फसलों की बर्बादी तथा नई नीतियों से जूझते किसान का चित्रण है। वर्तमान में कृषि क्षेत्र में हुए तकनीकी बदलाव तथा कृषि के बदलते स्वरूप को रेखांकित करने की जरूरत आज के साहित्य में है।

समकालीन साहित्य में किसान जीवन की अनुपस्थिति को उपन्यासकार संजीव का उपन्यास फांस तोड़ता है। यह रचना किसानों के जीवन का प्रामाणिक दस्तावेज कही जा सकती है। आज के रचनाकारों का किसानों के जीवन से कटाव का एक कारण शहरी रचना संस्कृति है, जिसमें लेखक वातानुकूलित कमरों में बैठकर किसानों के जीवन की पीड़ा को व्यक्त करने का मजाकिया काम करता है वहां संजीव का यह उपन्यास किसानों के जीवन के लम्बे अध्ययन का साक्ष्य है।

कुछ रचनाकारों की रचनाओं में किसानों के संकट तथा संघर्ष जरूर आए हैं। हिंदी साहित्य में अष्टभुजा शुक्ल 'हाथा मारना' कविता में किसानों को कविता लिखने से ज्यादा महत्वपूर्ण मानते हैं। दिनेश कुमार शुक्ल किसानों की बढ़ती आत्महत्याओं से चिंतित हो कहते हैं "किस युग की बात है सो तो अब याद नहीं/ पर तब आत्महत्याएं नहीं करते थे/ किसान इस तरह...../ किसान उखाड़ फेंकते थे/ साम्राज्य को भी खरपतवार - सा।"¹ उमाशंकर चौधरी मुआवजे के नाम पर किसानों के साथ होने वाले भेदे मजाक को अपनी कविता में रेखांकित करते हैं, "वह बूढ़ा किसान/ जिसके खेत में पड़ चुका है सूखा/ जिसकी फसल हो चुकी है सूखकर खरपतवार/ उन्हें सरकार की तरफ से दिया गया है/ तीन सौ पचहत्तर रुपये का मुआवजा।"² राजेश जोशी तथा विष्णु खरे की कविताओं में भी किसानों के जीवन की चिंताओं को देखा जा सकता है।

साहित्यिक कृतियों में जितना स्थान किसान को मिला है उससे कुछ कम ही हिंदी आलोचना में मिल पाया है। एक दो पुस्तकों को छोड़ दे तो हिंदी आलोचना में किसानों के साहित्य पर एकाग्र आलोचनात्मक पुस्तक देखने को नहीं मिलती। जिस तरह रचना में टुकड़ों - टुकड़ों में

¹ पी. रवि (सम्पा.), कविता का वर्तमान, वाणी प्रकाशन, दिल्ली, पृष्ठ - 42

² उमाशंकर चौधरी, कहते हैं तब शहंशाह सो रहे थे, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, दिल्ली, पृष्ठ - 46

किसानी जीवन आया है उसी तरह आलोचना में किसानों का साहित्य आया है। किसान या किसानों का साहित्य हिंदी आलोचना का केंद्रीय विषय नहीं बन पाया है।

रामाज्ञा शशिधर ने अपनी पुस्तक 'किसान आंदोलन की साहित्यिक जमीन' में किसान आंदोलन के विस्तृत इतिहास का उल्लेख किया है। किसान आंदोलन का साहित्य पर प्रभाव तथा साहित्य में किसान की उपस्थिति पर भी रामाज्ञा शशिधर ने विस्तार से लिखा है। किसानों के संघर्ष तथा प्रतिरोध को पहचानते हुए रामाज्ञा जी ने मौलिकता के साथ प्रस्तुत किया है। इस पुस्तक में किसान की कविता तथा लोकसाहित्य का ब्यौरैवार वर्णन रामाज्ञा जी ने किया है।

आलोचक मैनेजर पाण्डेय ने अपनी आलोचनात्मक पुस्तकों में किसान के बारे में लेख लिखकर किसानों की विमर्श को समृद्ध किया है। इन्होंने किसानों की बढ़ती आत्महत्याओं, सरकार की नीतियों तथा साहित्य में किसान की उपस्थिति पर बार - बार सवाल उठाए हैं।

अशोक कुमार पाण्डेय की पुस्तक 'शोषण के अभ्यारण्य' में नवसाम्राज्यवादी दौर में किसानों पर आ रहे संकटों के प्रति चिंता है। भूमण्डलीकरण की आंधी में आई नई नीतियों के भारतीय किसान पर प्रभाव को लेखक ने रेखांकित किया है। भूमि अधिग्रहण, कर्ज, महंगाई की मार को झेलते मजबूर किसानों की आत्महत्याएं लेखक को बेचैन करती हैं। विकास के नाम पर किसानों की बर्बादी तथा बढ़ते खाद्य संकट को लेखक ने समझा है। भूमण्डलीकरण, उदारीकरण तथा निजीकरण की नई नीतियों के फलस्वरूप हुई किसानों की बर्बादी तथा बढ़ती बेरोजगारी पर लेखक ने तलख सवाल खड़े किए हैं।

4.1.3 किसान संबंधी साहित्य एवं आलोचना के प्रमुख मुद्दे

आधुनिक समय में वैश्वीकरण तथा उदारीकरण की पीठ पर सवार बाजार के विस्तार ने तथा बदलती जीवन शैली की बढ़ती जरूरतों ने किसानों के लिए संकट खड़ा कर दिया है। नदियों बांधों की परियोजनाओं, बड़ी कंपनियों की स्थापना तथा रिहायशी क्षेत्र के लिए भूमि अधिग्रहण करके किसानों को विस्थापित होने के लिए मजबूर किया जा रहा है। विकास के नाम पर जमीन की यह जरूरत किसानों को उसकी जमीन से खदेड़कर पूरी की जा रही है। किसानों की जीविका के

आधार को खत्म करके निजी कम्पनियों को कम दामों में जमीन दी जा रही है। इस बारे में अशोक कुमार पाण्डेय लिखते हैं, “देश के आर्थिक विकास की गति तेज करने के लिए निर्यातोन्मुखी उद्यमों के उत्पादन को प्रोत्साहित करने हेतु मुक्त वातावरण उपलब्ध कराने के नाम पर यह दरअसल देशी - विदेशी उद्योगपतियों को रेवड़ियां बांटने और किसानों से बेहद सस्ती कीमतों पर जमीन हासिल करने के जनविरोधी करानामे को राज्यव्यवस्था की देखरेख में अंजाम देने की शर्मनाक कोशिश है।”¹ जमीन में फसलों की जगह रातों - रात उग आई बहुमंजिला इमारतों के खतरे को साहित्य बखूबी पहचान रहा है।

भूमि अधिग्रहण तथा खेती के संकट से जूझता किसान अपनी आजीविका के लिए विस्थापित होने को विवश हो रहा है। खेती छोड़कर वह मजदूरी के लिए शहर की तरफ जा रहा है। मैनेजर पाण्डेय इस बारे में चिंता व्यक्त करते हुए कहते हैं कि “भारत में किसान और कृषि गहरे संकट में है। किसानों के संकट की गम्भीरता का प्रमाण उनकी आत्महत्याओं की संख्या से मिलता है, परंतु कृषि के संकटग्रस्त होने का सबूत यह है कि बड़ी संख्या में किसान अब खेती से मुंह मोड़कर शहरों की ओर भाग रहे हैं।”² शहर में वह छोटी - मोटी रेहड़ी लगाकर अपना गुजारा कर रहा है, और किसान महिलाएं चौका - वासन करने वाली नौकरानियां बन रही हैं। गांव के पढ़े - लिखे नौजवान न तो किसानी कर पाते हैं और न ही उन्हें कोई नौकरी मिल पाती है। खेती से लगातार पलायन का कारण उसमें हो रहे घाटे तथा असुरक्षा का भाव है। राष्ट्रीय नमूना सर्वेक्षण 2005 के अनुसार, “1991 से 2001 के बीच 44 लाख तथा 2001 और 2005 के बीच 1 करोड़ 70 लाख किसान परिवारों को खेती छोड़ने पर विवश होना पड़ रहा है। 10 में से 8 किसानों के लिए आज खेती गले की हड्डी बन गई है।”³ किसान का यह विस्थापन उसकी मजबूरी है जो साहित्य को प्रभावित किए बिना नहीं रह सकता।

फसलों के उत्पादन का खर्च लगातार बढ़ता जा रहा है। दूसरी तरफ बढ़ती महंगाई में किसान अपनी मूलभूत आवश्यकताओं की पूर्ति भी नहीं कर पा रहा है। जीवन को सामान्य तरीके

¹ अशोक कुमार पाण्डेय, शोषण के अभयारण्य, शिल्पायन प्रकाशन, दिल्ली, पृष्ठ - 49 - 50

² मैनेजर पाण्डेय, भारतीय समाज में प्रतिरोध की परम्परा, वाणी प्रकाशन, दिल्ली, पृष्ठ - 144

³ उमा रमण (सम्पा.), देश - विदेश, पुस्तिका - 8, नवउदारवादी आर्थिक नीतियों के दो दशक, देश - विदेश प्रकाशन, दिल्ली, पृष्ठ - 20

से जीने के लिए उसके पास पर्याप्त साधनों का अभाव है जिस कारण उसे साहूकारों से या बैंकों से कर्ज लेना पड़ रहा है। साहूकार उससे मन मर्जी का ब्याज वसूलता है और कर्ज न चुका पाने की स्थिति में उसकी जमीन कुर्क कर लेता है। किसान की इस स्थिति की तरफ लगातार हिंदी साहित्यकारों का ध्यान रहा है। आज के साहित्यकार कर्ज में डूबे किसानों की समस्या, गिरवी होती जमीनों, साहूकार तथा सरकारी तंत्र द्वारा किए जाने वाले शोषण तथा इन सब कारणों से आत्महत्या करते किसान के प्रति सहानुभूति तथा चिंता व्यक्त कर रहे हैं। मैनेजर पाण्डेय नवउदारवादी नीतियों को किसान के विरुद्ध बताते हुए उनके बढ़ते कर्ज का कारण इन नीतियों को मानते हैं, “नवउदारवादी नीतियों के तहत खेती में पूंजी निवेश और कम किया गया, बैंकिंग सुधारों के नाम पर खेती के लिए सांस्थानिक कर्ज के स्रोत सूख गये। खेती पर राजकीय इमदाद (सब्सिडी) कम किया गया, इससे खेती की लागत बढ़ती गयी, फिर 1995 में कायम विश्व व्यापार संगठन की शर्तों के मुताबिक खेती में विदेशी व्यापार को बढ़ावा दिया, इससे खेतिहर पैदावार के बाजार भावों में भारी गिरावट आयी..... नतीजा यह हुआ कि पहले ही लचर और कमजोर खेतिहर आर्थिक तंत्र ध्वस्त हो गया, राजसत्ता ने खेती से अपने पैर खींचे तो उसकी जगह निजी महाजनों की बन आयी। वे कर्ज से लेकर खाद, बीज, कीटनाशक मुहैया करने और पैदावार की खरीद बिक्री का काम धड़ल्ले से बिना किसी कायदे कानून के करने लगे, इस तरह कमजोर किसान कर्ज के ऐसे दुश्क्र में फंसते चले गये जो लगातार उन्हें जकड़ता गया।”¹ कर्ज की इस समस्या से छुटकारा कर्जमाफी से नहीं मिल सकता। किसान के लिए फसल संबंधी दूसरी ऐसी नीतियां बनाई जानी चाहिए जिनके तहत किसान को कर्ज लेना ही ना पड़े। क्योंकि “कर्जमाफी से हो सकता है कि सम्पन्न किसानों के एक हिस्से को थोड़ी फौरी राहत मिल जाए, लेकिन एक बार फिर जब वे नए कर्ज लेकर उत्पादन करने जाएंगे तो उन्हें उसी बाजार में जाना होगा जहां मोसेंटो, सिजेन्टा और कारगिल जैसे साहूकार अपने खूनी पंजों सहित उनका एहताराम करेंगे। नतीजा एक बार फिर वही फंदा, वही घाटा और कर्ज चुकाने की वही जद्दोजहद। जहां तक भूमिहीन कृषि मजदूरों का सवाल

¹ मैनेजर पाण्डेय, भारतीय समाज में प्रतिरोध की परम्परा, वाणी प्रकाशन, दिल्ली, पृष्ठ - 144

है तो वे अब किसी एजेण्डे में रहे ही नहीं।”¹ किसानों को कर्ज से छुटकारा दिलाने के लिए नीतियों में बदलाव जरूरी है।

विकास के नाम पर अधिक उत्पादन का लालच देकर महंगी खाद - बीज तथा कीटनाशकों के प्रयोग को बढ़ावा दिया जा रहा है। बहुराष्ट्रीय कम्पनियों द्वारा पेस्टीसाइड तथा महंगे बीज देकर एक तरफ जहां किसान की जमीन की उत्पादन क्षमता को प्रभावित किया जा रहा है वहीं दूसरी तरफ फसल के उत्पादन तथा आमदनी का संतुलन बिगाड़ा जा रहा है। जिसकी मार स्वास्थ्य, पर्यावरण तथा किसान की आर्थिक स्थिति सब पर पड़ रही है। इस चौतरफा मार को साहित्य ठीक से समझ रहा है तथा सचेत तौर पर इसका विरोध कर रहा है।

फसलों के न्यूनतम समर्थन मूल्य के लिए किसान सालों से संघर्ष कर रहा है। कभी पंजाब का किसान आलू की कीमत मात्र पचास पैसे मिलने पर सड़कों पर आलू फेंक रहा है तो कभी वह गन्ने की उचित कीमत के लिए लड़ रहा है। कई बार फसल के मूल्य से उसकी लागत कीमत भी पूरी नहीं हो पाती और किसान का जीवन संकट में फंस जाता है। साहित्य में फसलों के उचित समर्थन मूल्य की बात बार - बार उठाई जाती है। फ्रांस में एक महिला किसान अपनी कपास का उचित मूल्य न मिल पाने पर उसे वापिस उठा लाती है, उसकी कपास बरसात में भीगकर बर्बाद हो जाती है लेकिन वह उसे कम मूल्य पर नहीं बेचकर किसानों की अनदेखी करती व्यवस्था पर सवाल उठाती है।

जमीन से बेदखली, कर्ज की समस्या, महंगाई से जूझता किसान या तो विस्थापित हो रहा है या आत्महत्या करने के लिए मजबूर है, “भूमण्डलीकृत उदारीकरण ने किसान को उदारीकरण के जाल में कुछ ऐसे फंसा दिया कि बीज, खाद, सिंचाई और खेती के औजारों के लिए लिया गया कर्ज उसके गले की फांस बनने लगा और देखते ही देखते देश के लाखों किसान आत्महत्या के लिए विवश होने लगे।”² किसानों की बढ़ती आत्महत्याओं के बारे में आलोचकों ने बार - बार सवाल उठाए हैं। इस संदर्भ में मैनेजर पाण्डेय कहते हैं कि “पिछले बीस वर्षों में जितनी बड़ी संख्या

¹ अशोक कुमार पाण्डेय, शोषण के अभ्यारण्य, शिल्पायन प्रकाशन, दिल्ली, पृष्ठ - 30

² 19. 6. 2016 को दैनिक ट्रिब्यून में बलराम के लेख ‘किसान के बेबस जीवन की ‘फांस’ से

में भारत के किसानों ने आत्महत्या की है वह भारत के इतिहास में ही नहीं पूरे मानव समाज के इतिहास में अपूर्व है। इससे यह भी साबित होता है कि किसानों के आत्महत्या के प्रसंग में भारत अतुल्य है। यही एक ऐसा संदर्भ है जिसमें अतुल्य भारत का नारा सही साबित हुआ है। इतनी बड़ी संख्या में किसानों की आत्महत्या को राष्ट्रीय शोक या राष्ट्रीय शर्म के रूप में स्वीकार करना मानवीय सभ्यता की मांग है।¹

देश की 60 प्रतिशत से ज्यादा आबादी अपनी जीविका के लिए खेती पर निर्भर है। खेती आर्थिक व्यवस्था को मजबूत करती है, उत्पादन से सबकी जरूरतें पूरी करती है। लेकिन पिछले कुछ वर्षों में खेती की लागत बढ़ी है तथा किसान की आमदनी में गिरावट आई है। ऐस में खेती पर आए संकट को मिटाने के लिए राज्य को कदम उठाने चाहिए तथा ठोस नीतियों का निर्माण करना चाहिए। खेती के लिए नीतियों को कार्यरूप देने का प्रयास जरूर रहा है। पूरणचंद जोशी के शब्दों में, “किसान को नवनिर्माण की मुख्य प्रेरणा शक्ति बनाने के उद्देश्य से प्रेरित एक विकल्प की तलाश का विचार भारत के राष्ट्रीय नवजागरण और स्वाधीनता संग्राम की सभी मुख्य चिंतनधाराओं का विषय रहा है।”² लेकिन आज के समय में राज्य की नीतियों से किसान गायब है। किसान की मुख्य जरूरतों तथा खाद - बीज, दवाइयों पर रियायतें लगातार कम हो रही हैं। महंगाई, कर्ज तथा खाद - बीज की रियायतों में कमी से किसान लगातार आर्थिक संकट से जूझ रहा है। फसलों का अपेक्षित समर्थन मूल्य नहीं मिल रहा है। लगातार जमीन की उपजाऊ शक्ति में कमी आती जा रही है। राज्य को किसान की इन स्थितियों को देखते हुए उचित नीतियां बनाकर उसकी स्थिति में सुधार के प्रयास करने चाहिए।

4.2 बाजारवाद

आदिम समाज में सामूहिक उत्पाद तथा सामूहिक उपभोग होता था। सामंती समाज में उत्पादन का कुछ हिस्सा अपने उपभोग के लिए होता था तथा कुछ हिस्से से दूसरों की जरूरतें पूरी की जाती थी। पूंजीवादी समाज में उत्पादन तथा उपभोग की पूरी प्रणाली बदल गई है। आज बाजार

¹ मैनेजर पाण्डेय, भारतीय समाज में प्रतिरोध की परम्परा, वाणी प्रकाशन, दिल्ली, पृष्ठ - 143

² पी. रवि. (सम्पा.), कविता का वर्तमान, वाणी प्रकाशन, दिल्ली, पृष्ठ - 42

की जरूरतों को ध्यान में रखकर उत्पादन किया जाता है। उत्पादन संबंधों के बदलते स्वरूप के साथ - साथ बाजारवाद ने एक वैकल्पित संस्कृति पैदा की है।

4.2.1 बाजारवाद: सामान्य परिचय

आनंद प्रकाश बाजारवाद को विकसित देशों में विकसित समाज - प्रणाली की देन मानते हुए कहते हैं कि “दूसरे विश्वयुद्ध के बाद जो एक खास तरह की समाज - प्रणाली पश्चिम में विकसित हुई और धीरे - धीरे पूर्व के देशों तक पहुंची, उसके अंदर बाजार ने अपनी सत्ता कायम की है और इसे यदि बाजारवाद कहा जाता है, तो हमारे लिए यह एक उपयोगी अवधारणा है।”¹

रमेश उपाध्याय बाजारवाद की परिभाषा देते हुए कहते हैं कि “बाजारवाद का मतलब है यह मानकर चलना कि दुनिया में हर चीज बेची और खरीदी जाने के लिए है, चाहे वह प्राकृतिक हो, या मानवीय श्रम से निर्मित, या मानवीय सर्जनात्मकता से रचिता”² अरुण होता के अनुसार, “पूरी दुनिया को बाजार में तब्दील करने की संकल्पना बाजारवाद कहलाती है।”³ बाजारवादी व्यवस्था वस्तु को महत्व देती है, “बाजार के लिए सब कुछ प्रोडक्ट है। चाहे मनुष्य हो या उसकी भाषा, संस्कृति हो या मानवीय संबंध, सभी प्रोडक्ट हैं। इनकी महत्ता आंकी जाती है बाजार को मिलने वाले मुनाफे के आधार पर। वस्तु मुख्य हो जाती है और मनुष्य गौण।”⁴

हमेशा से ही व्यक्ति के जीवन में बाजार की भूमिका रही है। लेकिन शुरुआती बाजार निर्णायक भूमिका में नहीं था। कबीर तथा अन्य मध्यकालीन रचनाकारों की रचनाओं में बाजार का जिक्र बार - बार आया है। सूरदास ने अपनी रचनाओं में ‘आयो घोष बड़ो ब्योपारी’ कहकर व्यापार का वर्णन किया है तथा गोपियों द्वारा व्यर्थ का सामान खरीदने से इनकार करवाया है ‘यह व्यापार तिहारो ऊधो। ऐसोई फिरी जैहे’, ‘कबिरा खड़ा बाजार में लिए लुकाठी हाथ’ या ‘कबिरा खड़ा बाजार में मांगे सबकी खैर’ पढ़कर लगता है कि उस समय बाजार सामूहिक अभिव्यक्ति का कोई स्थल रहा होगा, जहां सबकी खैर मांगी जा रही है, लेकिन आज बाजार का स्वरूप पूरी तरह

¹ रमेश उपाध्याय, संज्ञा उपाध्याय, बाजारवाद और नई सृजनशीलता, शब्दसंधान प्रकाशन, दिल्ली, पृष्ठ - 9

² वही, दिल्ली, पृष्ठ - 69

³ शंकर (सम्पा.), परिकथा, अंक - 33 (युवा आलोचना अंक), जुलाई - अगस्त 2011, पृष्ठ - 76

⁴ वही, पृष्ठ - 76

बदल चुका है। अब विज्ञापन उपभोक्ता को डसने के लिए हर समय अपना मुंह बाए खड़े रहते हैं जो बाजार अतीत में हमारी जरूरतें पूरी करने वाला जीवन का हिस्सा था आज वह हमारे जीवन के लिए बाध्यता बनता जा रहा है। बाजार ही हमारे जीवन की दशा और दिशा तय कर रहा है, “बाजारवाद एक शोषण - प्रक्रिया का नाम है, जिसके माध्यम से ऐसे संसार की रचना हो रही है, जिसमें कुछ लोगों के पास अथाह सुख है, और अधिकांश ठन - ठन गोपाल, एक ओर चमकता भारत, दूसरी ओर पीड़ित भारता उदारीकरण, निजीकरण और भूमण्डलीकरण की नीतियों से पूंजी का प्रवाह इस तरह से हुआ कि खरबपतियों की संख्या भी बढ़ रही है और गरीबों की संख्या में भी बेहताशा वृद्धि हो रही है।”¹ बाजारवाद की भयावह छवि को पहचाने बिना उसके जाल से मुक्त होना संभव नहीं है। रमेश उपाध्याय के शब्दों में कहें तो, “जो बाजार हमें इन दिनों डरा रहा है, उसके असली संकटों को समझने के लिए हमें उसके ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य को भी समझना होगा, क्योंकि इतने भर कह देने से काम नहीं चलता या तस्वीर साफ नहीं होती कि बाजारवाद हर चीज को बिकाऊ मान लेने वाली विचारधारा है।”² वस्तुओं को बिकाऊ बनाने वाली बाजारवादी व्यवस्था मनुष्य का वस्तुकरण कर रही है, और ऐसा करने के लिए वह मनुष्यता के सभी मूल्यों को नष्ट करती है, “बाजार ने मनुष्य को इतिहास निरपेक्ष बनाने की कोशिश की है, ताकि इतिहास ने मनुष्य को त्याग, संयम, प्रतिरोध के जो मूल्य सिखाये हैं, उन्हें नष्ट किया जा सके।”³

देशों की सीमाएं लांघते हुए विश्व बैंक और अंतर्राष्ट्रीय मुद्राकोष विकास के नए मानक और बाजार के स्वरूप का निर्धारण कर रहे हैं। जिसमें एक तरफ स्थानीय जरूरतों को नजरअंदाज किया जा रहा है तो दूसरी तरफ अकूत उपभोग की आदतें पैदा की जा रही हैं। बाजार में उत्पादन तथा खपत के बीच पूंजी ने मुनाफा कमाने के लिए दूरी पैदा की है। धीरे - धीरे बाजारवाद वैश्विक साम्राज्यवाद के रूप में विकसित हो रहा है।

राष्ट्रीय नियंत्रण की जगह विश्व व्यापार संगठन का नियंत्रण होना, खाद्य, मनोरंजन, शिक्षा, स्वास्थ्य आदि क्षेत्रों में व्यापार का फैलना तथा उत्पादन से ज्यादा प्रबंधन पर ध्यान आदि ऐसी

¹ डा. सुभाष चन्द्र, हरियाणा की कविता: जनवादी स्वर, लोकमिश्र प्रकाशन, दिल्ली, पृष्ठ - 95

² रमेश उपाध्याय, संज्ञा उपाध्याय, बाजारवाद और नयी सृजनशीलता, शब्दसंधान प्रकाशन, दिल्ली, पृष्ठ - 33

³ शिव वर्मा (सम्पा.), नया पथ, जनवरी - जून 2012 (संयुक्तांक) में वैभव सिंह के लेख ‘विचार का जनतन्त्र’ से, पृष्ठ - 47

चीजे हैं जिसने बाजार की व्यवस्था के स्वरूप को पूर्णतः बदला है। बाजार की इस नई व्यवस्था में एक तरफ जहां छोटे दुकानदार, रेहड़ी - पटरी वालों के लिए रोजगार का संकट पैदा हो रहा है वहीं दूसरी तरफ गरीब बस्तियों को लीलकर मॉल तथा शोरूम बनाएं जा रहे हैं। बाजार की इस नई व्यवस्था में शिक्षा वर्चस्वशाली वर्गों के लिए सेवक तैयार करने का माध्यम बन गई है। निजीकरण की नीतियां दुनिया की आर्थिक बुनियाद तैयार कर रही है। कला और साहित्य मात्र मनोरंजन का साधन बन रहे हैं, मीडिया लोगों की सोच तथा जीवन को निर्धारित कर रहा है। आज बाजार मनुष्य के ज्ञान तथा उत्पादन को उसी के खिलाफ इस्तेमाल कर रहा है।

अपनी महत्वाकांक्षा पूरी करने के लिए व्यक्ति बाजार की होड़ में शामिल है। सभी व्यक्ति प्रतिद्वंद्वी बनते जा रहे हैं जिसमें सहयोग के लिए कोई संभावना नहीं बचती। बाजारवादी संस्कृति व्यक्ति में असुरक्षा तथा गलाकाटू प्रतिस्पर्धा पैदा करती है, परिणामस्वरूप व्यक्ति अनैतिक तथा अनुचित उपायों का सहारा लेकर आगे निकलने का प्रयास करता है। व्यक्ति की आकांक्षा का स्तर रुढ़िवादी, उपभोक्तावादी तथा अवसरवादी होता जा रहा है। सीमित उद्देश्यों के साथ कैरियरवाद उस पर हावी है।

बाजारवादी व्यवस्था ने व्यक्ति में त्याग की जगह संग्रह की भावना पैदा की है। सामाजिक प्रतिस्पर्धा तथा अपनी शान - शौकत वह अधिक से अधिक वस्तुओं के संग्रह से आंकता है। इसीलिए बाजार उसके लिए महत्वपूर्ण हो जाता है। व्यक्ति की बाजार में सक्रियता बढ़ती जा रही है, बाजार उसे डराता नहीं बल्कि लुभाता है, न ही बाजार उसके दिमाग में नैतिक दुविधा पैदा करता है, बल्कि खरीददारी उसे सुकून देती है, राहत देती है और बाजार उसके लिए तनाव से मुक्ति का माध्यम है। वस्तुएं जीवन से ज्यादा जगह घेर रही हैं, वस्तुओं का बढ़ता प्रचार मनुष्य का वस्तुकरण कर रहा है।

बाजारवाद विविधता को एकरूपता में तब्दील करता है। मशीनों से तैयार हजारों - लाखों वस्तुएं एक ही आकार - प्रकार तथा रंग - रूप की होती हैं। जिसमें सृजक या श्रमिक की कोई पहचान नहीं होती जबकि कारीगरों के हाथों से तैयार वस्तुओं में विविधता भी होती है और सृजक

की पहचान भी, क्योंकि एक वस्तु को एक ही व्यक्ति तैयार करता है। वस्तु निर्माण के साथ - साथ वस्तु के उपभोग में भी विविधता की जगह एकरूपता बढ़ रही है। अब बाजार में एक ही तरह की हजारों वस्तुएं उपलब्ध हैं और लगातार प्रचार के साथ उपभोक्ता को उन्हें खरीदने के लिए प्रेरित किया जाता है। सैक्टरों में एक जैसे घरों के साथ - साथ एक जैसी गाड़ी, एक जैसे रहन - सहन की संस्कृति पैदा की जा रही है।

बाजार के विस्तार ने व्यक्ति की सामाजिकता को समाप्त करते हुए उसे स्वकेन्द्रित बनाया है। बाजार प्रदत्त असीम इच्छाओं को पूरा करने की भागदोड़ में व्यक्ति अपनी सामाजिक जिम्मेदारियों को तो पीछे छोड़ ही देता है। व्यावसायिक रिश्तों में बहुत ज्यादा औपचारिक भी हो जाता है। बाजार का विस्तार मनुष्य को सामाजिक मूल्यों की अवहेलना करने की छूट प्रदान करता है। मनुष्य की प्रत्येक गतिविधि पर बाजार हावी होता जा रहा है। परिणामस्वरूप परिवार, गांव तथा समाज में बिखराव हो रहा है। मनुष्य की इच्छाओं को बढ़ाकर, उसे तरह - तरह के लालच दिखाकर बाजार अपराधीकरण को बढ़ा रहा है, जिससे व्यक्ति की सामाजिक सुरक्षा खतरे में पड़ रही है। बाजार मनुष्य की इच्छाओं, जरूरतों तथा कल्पनाओं का संचालन करता है और जिसमें मनुष्य का चिंतन भी उसका अपना नहीं रह जाता। ऐसे में वह समतामूलक समाज की कल्पना नहीं कर सकता बल्कि स्वयं असुरक्षित महसूस करता है और अपने लिए सुरक्षित जगह ढूंढता है। मनुष्य की पूरी क्षमता बाजार से जूझने में ही लगने लगती है। बाजार ने व्यक्ति को प्रतियोगी तथा प्रदर्शनप्रिय बनाया है जिसके चलते उसका पूरा जोर बाहरी व्यक्तित्व पर ही रहता है। बूट - सूट पहनकर चलने वाला अज्ञानी व्यक्ति ज्ञानवान से अधिक इज्जत पाता है।

4.2.2 बाजारवाद संबंधी साहित्य एवं आलोचना

बाजारवाद की चुनौतियों को समझते हुए साहित्यकारों ने उन पर पैनी दृष्टि से चिंतन किया है। बाजार ने जहां समाज के हर वर्ग हर व्यक्ति को अपनी गिरफ्त में लिया है वहीं साहित्य भी इससे अछूता नहीं रहा है। साहित्य अपने परिवेश से लेखन ऊर्जा तथा रचना विषय ग्रहण करता है। स्वयं प्रकाश ने 'ईंधन' उपन्यास में बाजार के बढ़ते फैलाव और उसकी गिरफ्त में फंसे व्यक्ति का बखूबी

चित्रण किया है, “अक्तूबर में कोका कोला दो हजार तीन सौ करोड़ रूपये का निवेश लेकर आ गयी। लोग पहले की तरह खा पी रहे थे, सपने देख रहे थे और दूसरों के दिखाए सपने साकार करने की खातिर रात दिन भाग - दौड़ कर रहे थे.....इट्स माय लाइफ थी।”¹ रचना में मौजूद सामाजिक जीवन, कला व वैश्विक दृष्टि को समझने के लिए साहित्य में परोक्ष रूप से उपस्थित बाजार के प्रभाव व हस्तक्षेप को समझना बेहद जरूरी है। क्योंकि रचना जहां एक तरफ बाजार से जूझ रही है व इसका विरोध कर रही है वहीं दूसरी तरफ वह बाजार पर आश्रित व उससे प्रभावित भी है। टी.वी., इंटरनेट, फोन, फेसबुक, व्हाट्स अप आदि ने आमजन को अपनी गिरफ्त में इस हद तक ले लिया है कि साहित्य उनके लिए अनुपयोगी वस्तु बनता जा रहा है।

आज के समय में साहित्य पर बाजार का दबाव बढ़ता जा रहा है, जैसे - जैसे दबाव या चुनौतियां बढ़ती हैं वैसे - वैसे संघर्ष भी बढ़ता है। पिछले कुछ सालों में साहित्य में बाजारवाद के प्रति यह संघर्ष सामने आया है। जिसका मुकाबला साहित्यकार कर रहा है। बाजार के प्रभाव में साहित्य का उत्पाद ही उसकी गुणवत्ता निर्धारित करने लगा है। माना जाने लगा है कि कृति जितनी विवादास्पद होगी उतनी ही चर्चित होगी और उसी के अनुसार उसका मूल्य भी बढ़ेगा। बाजारवादी विचारधारा के तहत सृजनात्मक कार्य जिसमें साहित्य भी शामिल है वह सामूहिक न रहकर व्यक्तिगत अभिव्यक्ति बन जाती है। बाजार अपने लाभ के लिए साहित्यिक शक्तियों को नियंत्रित करता है। साहित्यकार को व्यापक मानवीय उद्देश्यों से भटकाकर बाजार व्यक्तिगत तथा व्यावसायिक सीमित उद्देश्यों के लिए प्रेरित करता है।

साहित्यकारों में उदय प्रकाश, अखिलेश, स्वयं प्रकाश, पंकज मित्र, नीलाक्षी सिंह, गीत चतुर्वेदी, उमाशंकर चौधरी, कैलाश वनवासी, राकेश बिहारी, स्वयंप्रकाश, अल्का सरावगी, उदय प्रकाश, मंगलेश डबराल, विद्यासागर नौटियाल, ज्ञानेन्द्रपति, कुंवर नारायण, अष्टभुजा शुक्ल, विष्णु नागर, लीलाधर जगूड़ी, लीलाधर मंडलोई, पंखुरी सिन्हा, यतीन्द्र मिश्र, संजय कुंदन, उर्मिला शुक्ल आदि ने बाजारवादी चुनौतियों को स्वीकार करते हुए इस व्यवस्था का पर्दाफाश करने का

¹ स्वयं प्रकाश, ईंधन, वाणी प्रकाशन, दिल्ली, पृष्ठ - 181

साहस दिखाया है। बाजारवाद तथा उपभोक्तावाद की चिंता, डर तथा परिणामों का जायजा इन साहित्यकारों ने लिया है।

‘रेहन पर रघु’ उपन्यास में लेखक बाजार तथा उपभोक्तावाद के प्रभाव से बदलती जीवनशैली का चित्रण बखूबी करता है, “इस उपन्यास में भारतीय गांव, अमेरिकन जीवन - शैली, स्त्रियों का संघर्ष, मीडिया गिरोह, दलाल, राजनीति, युवा वर्ग की सोच और सबके बीच कॉलेज की नौकरी से अवकाश प्राप्त रघुनाथ बाबू का संघर्ष - सबको लेकर काशीनाथ सिंह ने नव उपनिवेशवाद का एक विमर्श प्रस्तुत किया है।”¹

बाजारवादी व्यवस्था की अराजकता उदय प्रकाश की कहानी ‘मोहनदास’ में दिखाई गई है। इस व्यवस्था से त्रस्त जीवन का चित्रण अखिलेश की कहानियों ‘शापग्रस्त’ तथा ‘जलडमरू’ में है। बाजारवादी वस्तुकरण को स्वयं प्रकाश की कहानी ‘बर्डे’ में चित्रित किया गया है जिसमें व्यक्ति से ज्यादा महत्व उपहारों को दिया जाता है। पंकज मित्र ने अपनी कहानी ‘बेला का भू’ में व्यवसाय की असलियत को बयान किया है, ‘बिजुरी महतो की अजब दास्तान’ में बहुराष्ट्रीय कंपनियों का विरोध कर रहे व्यक्ति की दयनीय स्थिति का चित्रण है।

गीत चतुर्वेदी ने अपनी कहानी ‘पिंक स्लीप डैडी’ में इंश्योरेन्स कंपनी के माध्यम से बाजार की मंदी का जिक्र किया है तो दूसरी कहानी ‘सिमसिम’ में भूमाफियाओं की जालसाजी दिखाई है। सत्यनारायण पटेल की कहानी ‘लुगड़ी का सपना’ बहुराष्ट्रीय कम्पनियों तथा भूमाफियाओं के खिलाफ एक सामान्य किसान के संघर्ष की कहानी है। जिसमें बाजार तथा उपभोक्तावाद के बंधनों से मुक्त व्यक्ति के जीवन को अधिक सुखद दिखाया गया है। एक अन्य कहानी ‘सपने के टूट पर कॉपल’ में बाजारवादी अर्थव्यवस्था से प्रभावित व्यक्ति, पूंजी तथा सत्ता की सांठ - गांठ आदि को लेखक ने समझा तथा समझाया है।

कैलाश वनवासी की कहानी ‘बाजार में रामधन’ में दलालों की लाख कोशिशों के बाद भी उनके चंगुल से बैलों को बचाते हुए व्यक्ति की कहानी है। नीलाक्षी सिंह की कहानी ‘टेकबे तो

¹ शंकर (सम्पा.), परिकथा, अंक - 33 (युवा आलोचना अंक), जुलाई - अगस्त 2011, पृष्ठ - 52

टेक न तो गो' में बाजारवादी संजाल में फंसे व्यक्ति का वस्तु हो जाने तथा पैसे की दौड़ में शामिल होकर मशीन हो जाने के प्रति गहरी चिंता व्यक्त की गई है। राकेश बिहारी की कहानियां 'वह सपने बेचता था', 'और अन्ना सो रही थी' तथा 'बाकी बातें फिर कभी' बाजारवाद, उपभोक्तावाद तथा कॉरपोरेट संस्कृति को प्रस्तुत करती हैं। संजय खाती की 'पिंटी का साबुन', अनुज की 'खूटा', अरुण कुमार की 'तरबूज का बीज' तथा अशोक कुमार पाण्डेय की 'पागल है साला' बाजारवादी व्यवस्था पर लिखी गई महत्वपूर्ण कहानियां हैं। कविता की कहानी 'नेपथ्य' तथा पंकज सुबीर की कहानी 'छोटा नटवर लाल' में उपभोक्तावाद तथा बाजारवाद का चित्रण है जिसमें बाजार फिल्मी सितारों तथा क्रिकेटर्स के माध्यम से वस्तुओं को लोगों के जीवन में स्थापित करती है। पंकज सुबीर की एक अन्य कहानी 'सदी का महानायक उर्फ कूल कूल तेल का सेल्समैन' में भी बाजारवाद तथा विज्ञापन संस्कृति का वर्णन किया है। रचनाकारों ने बाजारवाद के संकटों को पहचानते हुए उसके दुश्क्र से हमें अवगत करवाया है। पूरी दुनिया को अपने कब्जे में लेने वाली इस व्यवस्था का प्रतिरोध साहित्यकारों ने किया है।

बाजारवादी व्यवस्था में खत्म होते मनुष्य तथा मनुष्यता के प्रति चिंता व्यक्त करते हुए कवयित्री इंदु जैन कहती हैं, "बहुत पास है वह घड़ी/ जब साड़ी त्योहारों पर पहनी जाएगी/ जैसे जापान में किमोनो/ घरों में लोग अकेले - अकेले रहेंगे/ जैसे भीड़ भरे बाजार में/ चीजें और बटुआ/ तब मेरे बच्चे कहां होंगे/ किसे पहचानेंगे?"¹

अरुण कमल बाजारवादी ताकतों को पहचानते हुए बाजार के माया जाल को उघाड़ते हैं। 'हाट' कविता में कहते हैं, "मेरे पास न पूंजी थी न पाप/ मैं बाट भी न था कि हाट के आता काम...../ लेकिन वहां जहां घर था मेरा घर नहीं था।"² अनामिका बाजार के प्रभाव तथा बदलते जीवन के संदर्भ में अपनी कविता 'धूमंतु टेलीफोन' में कहती हैं, "अधुनातन बाजारों के ही समानांतर/ सजे हुए हैं मुझमें/ हाट पुराने मीना बाजार।"³ हेमंत कुकरेती 'चांद पर नाव' संग्रह की

¹ शंकर (सम्पा.), परिकथा, अंक - 33 (युवा आलोचना अंक), जुलाई - अगस्त 2011, पृष्ठ - 77

² वही, पृष्ठ - 77

³ अनामिका, खुरदुरी हथेलियां, राधाकृष्ण प्रकाशन, दिल्ली, पृष्ठ - 12

कविता 'आंख' में कहते हैं, "बाजार को दूर से देखने पर भी/ लगता है डर/ मेरा घर तो बाजार के इतने पास है/ कि उजड़ी हुई दुकान नजर आता है।"¹

बाजारवादी साहित्य तथा विमर्श को हिंदी आलोचकों कमल नयन काबरा, अरुण त्रिपाठी, रमेश उपाध्याय, रामशरण जोशी, आनंद प्रकाश, मैनेजर पाण्डेय, विजय कुमार, परमानंद श्रीवास्तव, शम्भुनाथ, वीरभारत तलवार, पुरुषोत्तम अग्रवाल, अजय तिवारी, अवधेश प्रधान, कृष्णमोहन, प्रणय कृष्ण, गोपाल प्रधान, आशीष त्रिपाठी, वैभव सिंह, मृत्युंजय सिंह आदि ने ठीक से समझा है तथा उसकी व्याख्या की है।

बाजारवाद एक प्रभुत्वशाली विचारधारा बनती जा रही है ऐसे में लेखन तथा आलोचना इससे प्रभावित हुए बिना नहीं रह सकता है। साहित्य तथा कला मानव के श्रम से पैदा होने वाली चीजें हैं। मनुष्य जिस चीज से प्रभावित होता है उसका रंग उसके द्वारा रचित लेखन में साफ तौर पर दिखाई देता है। उदारीकरण के लिबास में आवारा पूंजी शोयर बाजारों को लुढ़काने के साथ - साथ हमारी अभिव्यक्ति और विचार की दुनिया में भी घुसपैठ कर रही है। साहित्य, समाज, संस्कृति कोई भी क्षेत्र ऐसा नहीं है जहां बाजार की उपस्थिति न हो, "उत्तर आधुनिकता के लगभग सभी समर्थकों का बाजार की शक्तियों से कोई विरोध नहीं, बल्कि, मजाकिया व लोकप्रिय किस्म की शैली में वह बाजार की बड़ाई करने में अपना वक्त खर्च करते हैं।"²

बाजारवाद परोक्षतः तथा सूक्ष्मता से साहित्य पर हमला करता है। वह साहित्य को अपने हितों के लिए इस्तेमाल करना चाहता है ऐसे में साहित्यकारों की स्वायत्तता तथा स्वतंत्रता ही उन्हें बाजार से लड़ने की शक्ति प्रदान कर सकती है। बाजारवादी खतरे को पहचान कर उसके विरोध की हिम्मत सचेत तथा संवेदनशील साहित्यकार ही कर सकता है। बाजारवाद के खतरों की शिनाख्त करके उसका प्रतिरोध करने की दरकार हिंदी साहित्य से की जा सकती है। क्योंकि "बाजार की

¹ शंकर (सम्पा.), परिकथा, अंक - 33 (युवा आलोचना अंक), जुलाई - अगस्त 2011, पृष्ठ - 78

² वही, पृष्ठ - 47

चाल हो या पूंजी का शोषण, सत्ता की क्रूरता हो या धर्म के नाम पर फैलाई जा रही सांप्रदायिकता, रचनाकारों ने इनका विरोध किया ही है, पाठकों को भी सचेत किया है।”¹

बाजारवादी व्यवस्था की हमेशा कोशिश रहती है कि किस तरह सृजक की बुद्धि पर नियंत्रण किया जाए, “सर्जक की सफलता के प्रति, हर किस्म के लालच के प्रति, जो एक किस्म की निर्लिप्तता होती है, फक्कड़ी होती है, बाजार उसे खत्म करने की कोशिश करता है। उसके तिलिस्म का सारा दारोमदार इस बात पर टिका है कि वह सर्जक को कितना भ्रष्ट कर पाता है, सर्जक की सृजनात्मकता को कितना मनोनुकूलित कर पाता है।”² बाजार के इस शिकंजे में कई बार लेखक न चाहते हुए भी फंस जाता है और अपनी ईमानदारी से लेखन करने की बजाय बाजार की मांग के अनुसार रचना का उत्पादन करने लगता है। यह बाजार का ही प्रभाव है साहित्यिक रचनाओं में किसानों की आत्महत्या का सवाल उतना मुखर नहीं है जितनी चर्चा न्यू यार्क के वर्ल्ड ट्रेड टावर पर हुए हमले या चमचमाते शोरूम की है। बाजारवाद के संकटों को समझकर तथा इसका प्रखर विरोध करके ही साहित्यकार रचनात्मक मूल्यों तथा मानवीय संवेदना को बचा सकता है। इस संदर्भ में आनंद प्रकाश का कहना है कि “‘आज’ के विरोध में खड़ा होना और ‘कल’ की वैकल्पित संभावना को रेखांकित करना आज साहित्य के लिए जरूरी है।”³

परिकथा के युवा आलोचना विशेषांक में अरुण होता के लेख ‘बाजार और साहित्य: एक आलोचकीय कथोपकथन’ में समकालीन रचनाकारों (विशेषकर कविता तथा कहानी के रचनाकार) द्वारा बाजारवाद, उपभोक्तावाद तथा पूंजीवाद के प्रभाव तथा परिणाम को समझने वाली रचनाओं का मूल्यांकन किया गया है। कविता की बाजार संबंधी चिंता को समझते हुए अरुण होता कहते हैं, “भूमण्डलीकरण और बाजारवाद के दौर में मनुष्य उपभोक्ता बनकर रह गया है। यह समकालीन कविता की अंतर्वस्तु है। बाजार और समाज में मनुष्य विलुप्ति के कगार पर है। रचनाकार की बड़ी चिंता है यहा।”⁴ रचनाकार के दायित्व निर्वाह को रेखांकित करते हुए अरुण

¹ शंकर (सम्पा.), परिकथा, अंक - 33 (युवा आलोचना अंक), जुलाई - अगस्त 2011, पृष्ठ - 76

² रमेश उपाध्याय, संज्ञा उपाध्याय, बाजारवाद और नई सृजनशीलता, शब्दसंधान प्रकाशन, दिल्ली, पृष्ठ - 26

³ वही, पृष्ठ - 20

⁴ शंकर (सम्पा.), परिकथा, अंक - 33 (युवा आलोचना अंक), जुलाई - अगस्त 2011, पृष्ठ - 79

होता कहते हैं, “बाजार ने युद्धों का काल निर्मित किया है, धार्मिक उन्माद को बढ़ावा दिया है, सत्ता को अपनी दासता स्वीकार करने के लिए विवश किया है। सबसे बड़ी बात है कि संवेदनाओं को क्षरित किया है, मानवता का गला घोंटा है। समकालीन रचनाकार इसे समझता है।”¹

रचनाकार बाजारवाद के प्रभावों के प्रति गम्भीर हैं, लगातार बाजार की गतिविधियों पर नजर रखते हुए उसकी क्रूर चालों के प्रति सचेत करते हैं। बाजारवादी आलोचना रचनाकार की इस भूमिका को स्पष्ट करते हुए कहती है, “हम सभी उपभोक्तावाद के शिकार बन रहे हैं या बन चुके हैं। बाजार के एकाधिकार के सामने घुटने टेक चुके हैं। बाजार अपनी बर्बरता दिखा रहा है और उसे हम कबूलते जा रहे हैं। रचनाकार इस बिडंबना को रूपायित करने का प्रयास कर रहा है।”²

4.2.3 बाजारवाद साहित्य एवं आलोचना के प्रमुख मुद्दे

बाजारवादी साहित्य तथा आलोचना ने बाजारवाद के फैलाव के सभी साधनों पर अपनी दृष्टि डाली है। उपभोक्तावाद, संचार प्रौद्योगिकी, इंटरनेट तथा सोशल मीडिया, विज्ञापन आदि बाजार के वाहक हैं, जिन पर सवार होकर बाजारवादी विचारधारा लोगों के दिमागों को कब्जाने का काम करती है। इन्हीं विषयों की शिनाख्त आलोचकों ने की है।

भूमण्डलीकरण को बाजारवाद के जनक के रूप में देखा जा सकता है, भूमण्डलीकरण के कारण आई नई आर्थिक नीतियों ने उपभोक्तावाद को बढ़ावा दिया है। जिस पर आलोचकों की प्रतिक्रिया प्रकट होती रही है। विनोद दास लिखते हैं कि “भूमण्डलीकरण की तेज आंधी के चलते नयी आर्थिक नीति और उदारीकरण ने देश के नब्बे प्रतिशत नागरिकों को बट्टे खाते में डाल दिया है और दस प्रतिशत नागरिकों को बाजार के लिए एक लोभी उपभोक्ता में बदल दिया है।”³ बहुराष्ट्रीय कम्पनियां पूरी दुनिया के मौलिक स्वाद को बदलने में लगी हुई हैं। खूबसूरत उपहार देकर ठगे जा रहे लोगों को राजेश जोशी अपनी कविता में सचेत करते हुए कहते हैं, “आज के दौर में बाजार ने अपनी स्थानीयता खोकर वैश्विक रूप पा लिया है विश्व बाजार की वस्तुएं सर्वत्र पहुंच

¹ शंकर (सम्पा.), परिकथा, अंक - 33 (युवा आलोचना अंक), जुलाई - अगस्त 2011, पृष्ठ - 78

² वही, पृष्ठ - 81

³ पी. रवि. (सम्पा.), कविता का वर्तमान, वाणी प्रकाशन, दिल्ली, पृष्ठ - 147

रही हैं। बिजली, सड़क, शिक्षा आदि से वंचित गांवों में भी 'ग्लोबल मार्केट' की वस्तु बेची जा रही है।”¹

बाजारवाद के चलते मध्यवर्गीय उपभोक्ता संस्कृति का जो विस्तार हुआ है उसे आलोचकों ने ठीक से समझा है, “उपभोक्तावाद का साहित्य पर सबसे घातक असर तो यह है कि लोग साहित्य के प्रति उदासीन हो रहे हैं। टेलीविजन और विदेशी चैनलों ने लोगों का सारा समय ले लिया है। लोग साहित्य के प्रति उदासीन ही नहीं हो रहे बल्कि सनसनीखेज, उत्तेजक और सस्ते साहित्य की मांग बढ़ रही है।”² यह उपभोक्तावाद बहुत विस्तृत है जो केवल आर्थिक शोषण ही नहीं करता सांस्कृतिक शोषण भी करता है, “बाजार प्रसूत उपभोक्तावाद न केवल आर्थिक - भौतिक शोषण कर रहा है, बल्कि सांस्कृतिक - आत्मिक शोषण भी कर रहा है।”³

बाजार सुंदरता के टापू बनाता है और सच की बजाय मुग्ध करने और वाहवाही कराने को ही अपना लक्ष्य मानकर आगे बढ़ता है। बाजार के फैलाव ने जिस उपभोक्तावादी संस्कृति को बढ़ावा दिया है उसके संदर्भ में विजय कुमार लिखते हैं कि “वस्तुओं के उपभोग की जीवन - शैली ने हमारे समय में एक असामान्य किस्म के सुखवाद को फैलाया है। वस्तुओं की तरफ एक बदहवास दौड़ है। वस्तुओं के प्रति यह पूजा - भाव अब जीवन के सारे पहलुओं का प्रतिनिधित्व करने लगा है।”⁴ व्यक्ति सुविधापूर्ण जीवन के लिए लड़ रहा है। बोधिसत्व ने लिखा है, “आजादी के लिए रोने से बेहतर है/ सुविधा - भरे तहखाने के लिए रोना।”⁵

पिछले सालों में सूचना प्रौद्योगिकी जिसका बहुत तीव्र गति से विस्तार हुआ है। तकनीक जहां एक तरफ मनुष्य को भौतिक रूप से सम्पन्न बना रही है वहीं दूसरी तरफ उसे भावनात्मक रूप से अपंग बना रही है। सूचना प्रौद्योगिकी के काम को आसान बनाता है मीडिया। जो लोगों के दिमाग को नियंत्रित करने का काम करता है। न्यूज चैनल, सिनेमा, धारावाहिक, रियल्टी शो समाज

¹ शंकर (सम्पा.), परिकथा, अंक - 33 (युवा आलोचना अंक), जुलाई - अगस्त 2011, पृष्ठ - 76

² हरिचरण राय (सम्पा.), परिवेश पत्रिका, अंक अप्रैल - दिसम्बर 1996 में 'रेगिस्तान में भटकते हिरण' लेख से

³ डा. सुभाष चन्द्र, हरियाणा की कविता जनवादी स्वर, लोकमित्र प्रकाशन, दिल्ली, पृष्ठ - 95

⁴ विजय कुमार, अंधेरे समय में विचार, संवाद प्रकाशन, मेरठ, पृष्ठ - 105

⁵ बोधिसत्व, हम जो नदियों का संगम हैं, राधाकृष्ण प्रकाशन, दिल्ली, पृष्ठ - 18

पर सांस्कृतिक नियंत्रण करके उसकी सोच को बाजार के अनुकूल बनाने का काम करते हैं। आज के समय में मीडिया के वर्चस्वशाली रूप को एडोर्नो का संदर्भ लेते हुए विजय कुमार कुछ इस तरह से व्याख्यायित करते हैं, “आज के इस युग में जनता के मनोजगत का सांस्कृतिक नियंत्रण और उसका अनुकूलन व्यापक आर्थिक गतिविधियों का ही एक हिस्सा है। वास्तविकता यह है कि तमाम तरह की लोकप्रिय सांस्कृतिक गतिविधियां, पूंजी और शक्ति केंद्रों के एकाधिकारवादी वर्चस्व के लिए रास्ता साफ करती हैं फिल्में, रेडियो, टेलिविजन और पत्र - पत्रिकाएं एक ऐसी व्यवस्था को बनाने का काम करती हैं जो हमें सार्वभौमिक, एकरूप और संपूर्ण प्रतीत हो। ऐसा सांस्कृतिक उद्योग एक व्यापक जनसमाज में छलावे और प्रपंच की भूमिका ही अदा कर सकता है। आज के समय के संकट का मूल इस बात में है कि जन समाज पर एक प्रकार का निरंकुश वर्चस्व स्थापित किया जा रहा है।”¹ हर तरह के असंभव काम करने वाली सूचना प्रौद्योगिकी मानवीय संबंधों तथा संवेदनाओं को समझने में नाकाम है। सोशल मीडिया एक तरह से बाजार का सांस्कृतिक दूत है, जो सनसनीखेज सूचनाएं प्रेषित करता है। इंटरनेट के जरिए आज सोशल मीडिया हरेक की जेब में पहुंच चुका है और बाजार इस सोशल मीडिया के माध्यम से ही विज्ञापनों का जाल फेंककर ग्राहकों को अधिक से अधिक लुभाता है।

विज्ञापन जो रात - दिन हम पर कुछ खास छवियों की बरसात करता रहता है। हम जानते हैं कि इन चिन्हों - छवियों का उत्पाद के साथ कोई अनिवार्य संबंध नहीं है। लेकिन अब सचमुच कोई इसकी चिंता भी नहीं करता। विज्ञापन - जगत में हजारों विशेषज्ञ इन छवियों का निरंतर निर्माण कर रहे हैं, “पिछले दो दशकों में जिस तरह से उपभोक्तावाद फैला है, उसने वस्तु की तुलना में विचार को गौण बना दिया है। विज्ञापन तंत्र निरंतर हमारे स्नायु तंत्र पर हावी होता रहा है।”² वे हमारी इच्छाओं, जीवन - शैलियों और व्यवहारों को एक खास आकार देने के विशेषज्ञ हैं। इस तरह मीडिया और उसकी छवियां वे तरीके हैं जिनसे बाजार - संस्कृति हमारी जिंदगियों को नियंत्रण में लेती है, “टेलीविजन पर आज हर पल, हर घड़ी वस्तुओं के विज्ञापन देखे जा रहे हैं। फिर सुपर

¹ विजय कुमार, अंधेरे समय में विचार, संवाद प्रकाशन, मेरठ, पृष्ठ - 57

² शंकर (सम्पा.), परिकथा, अंक - 33 (युवा आलोचना अंक), जुलाई - अगस्त 2011, पृष्ठ - 45

बाजार या शॉपिंग - माल में उन्हें खरीदा जा रहा है। इनका उपभोग मनुष्य के मन में एक अलग तरह की सामूहिकता का बोध जगा रहा है। लेकिन यह कैसी सामूहिकता है? यह सामूहिकता मनुष्य की तार्किक चेतना, परिस्थिति संज्ञान और मूलभूत नैतिक सरोकारों से जुड़ी हुई नहीं है।.....आज यह एक सपाट किस्म की सामूहिकता है। संस्कृति बाजार में बिकने वाले टूथपेस्ट की तरह है। सार्वजनिक जीवन के बड़े - बड़े कलाकार, लोकप्रिय फिल्म सितारे, प्रसिद्ध खिलाड़ी - ये सब जो कौम के अवचेतन में किन्हीं मूल्यों, किन्हीं सफलताओं, किन्हीं उपलब्धियों के मूर्तरूप (आइकन) हैं, वे सुपर बाजार में किन्हीं वस्तुओं के ब्रांड बन गए हैं। इनकी आदमकद छवियां वस्तुओं के बीच से झांकती रहती हैं।”¹

बाजार स्त्री को एक अभियान के तहत उपभोग की वस्तु के रूप में पेश करता है। बाजार सभी तरह के विज्ञापनों में स्त्री देह का प्रयोग करके ग्राहक को लुभाने का प्रयास करता है। जिन वस्तुओं से स्त्री का दूर - दूर तक कोई वास्ता ना हो उनको बेचने के लिए बाजार स्त्री देह को इस तरह से प्रस्तुत करता है कि वस्तु कम और स्त्री देह अधिक नजर आती है। अनीता वर्मा की कविता ‘इस्तेमाल’ में स्त्री की इसी स्थिति का चित्रण है, “अब बाजार स्त्री के कदमों में है/ उसके केश सहलाता उतारता कपड़े/ सामान चाहे कोई भी हो बेची जाती है/ हमेशा स्त्री।”²

बाजार की जरूरत के अनुसार आविष्कृत शिक्षा क्षेत्र में नए - नए संधानों में ज्ञान की बजाय सूचनाओं का स्थान अधिक है। आज वही व्यक्ति ज्यादा शक्तिशाली तथा समझदार माना जाता है जिसके पास अधिक - से - अधिक सूचनाएं हों। बाजार द्वारा परिचालित मीडिया में हमारे लिए सूचनाओं का अम्बार उपलब्ध है जो हमारी जरूरतों को नजर अंदाज करके दुनिया - जहान की सही गलत सूचनाएं पेश करता है। राजेश जोशी अपने काव्य संग्रह ‘चांद की वर्तनी’ में ‘हमारे समय के बच्चे’ शीर्षक कविता में कहते हैं कि ‘यह सूचनाओं का समय है/ सूचनाओं में तब्दील हो रहा है ज्ञान/ यहां तक कि सच भी अब सिर्फ एक सूचना है।’ इंटरनेट के विस्तार ने इस परिभाषा को पुख्ता किया है लेकिन सवाल यह है कि कौन सा ज्ञान। बाजारवादी व्यवस्था में यह ज्ञान सूचना

¹ विजय कुमार, अंधेरे समय में विचार, संवाद प्रकाशन, मेरठ, पृष्ठ - 106

² शंकर (सम्पा.), परिकथा, अंक - 33 (युवा आलोचना अंक), जुलाई - अगस्त 2011, पृष्ठ - 77

का निमित्त मात्र है समझ का नहीं। अंग्रेजी तथा कम्प्यूटर ने सारा ज्ञान कब्जा रखा है, ज्ञान की सीमित परिभाषाएं बन रही हैं। ज्ञान कोई उद्योग नहीं है ना ही मुनाफा कमाने के लिए है। ज्ञान किसी की निजी सम्पत्ति नहीं है और न ही शोषण का साधन बल्कि यह तो बेहतर समाज के निर्माण का साधन है। मनुष्य की प्रतिभा है, उसकी जीविका का साधन है। सबकी मुक्ति तथा शक्ति का स्रोत है। लेकिन बाजारवादी व्यवस्था में ज्ञान को निजी शक्ति के रूप में प्रयोग करके शोषण के औजार के रूप में इस्तेमाल किया जा रहा है, “विचार की जगह सूचना ने ले ली। सूचना आज के बाजार से जुड़ने का माध्यम है, इसीलिए रचना और आलोचना दोनों में सूचनाएं बहुत होती हैं।”¹

बाजारवाद व्यक्ति की सार्थकता की बजाय सफलता को अधिक महत्व देता है और इसके लिए चकाचौंध पैदा करता है। बाजारवादी संस्कृति के पास पैसा, प्रचार के साधन तथा ग्लैमर ऐसी चीजें हैं जो एक सामान्य व्यक्ति को लुभाने के लिए काफी हैं। सफलता को सर्वोपरी मूल्य की तरह स्थापित करके ही वह हमें सफलता की दौड़ में शामिल कर सकता है। साहित्य पर इसका पर्याप्त प्रभाव देखा जा सकता है, “सृजनशीलता पर बाजारवाद का दबाव शायद इतना अधिक है कि इन क्षेत्रों में सक्रिय कई लोग जीवन की सार्थकता से अधिक महत्व व्यावसायिक सफलता को देने लगे हैं। इससे सृजनशीलता निजी और सीमित उद्देश्यों वाली होकर रह जाती है और सृजनशील लोग ज्यों - ज्यों बाजार की अंधी शक्तियों की अधीनता स्वीकार करते जाते हैं, त्यों - त्यों उनकी सृजनात्मक स्वतंत्रता कम होती जाती है।”² सफलता के शार्टकट ईजाद करके बाजारवाद सार्थकता का स्पेस ही खत्म कर देता है।

4.3 पर्यावरण विमर्श

पर्यावरण हमारे जीवन का आधार है इसके मुख्य घटकों भूमि, वायु, जल, जंगल आदि पर निर्भर होकर ही मनुष्य का जीवन चलता है। मनुष्य की मूलभूत आवश्यकताएं पर्यावरण से ही पूरी होती हैं। मानव के प्रारम्भिक जीवन में प्रकृति उसकी सारी आवश्यकताएं पूरी करती थी लेकिन धीरे - धीरे मनुष्य की आवश्यकताएं बढ़ती गईं और प्राकृतिक संसाधनों में कमी आती गई। इन

¹ शंकर (सम्पा.), परिकथा, अंक - 33 (युवा आलोचना अंक), जुलाई - अगस्त 2011, पृष्ठ - 13

² रमेश उपाध्याय, संज्ञा उपाध्याय, बाजार और नयी सृजनशीलता, शब्दसंधान प्रकाशन, दिल्ली, प्रस्तावना से

आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए प्रकृति पर निर्भरता पर्यावरण के संसाधनों के दोहन में तब्दील हो गई। मार्क्स ने कहा है कि 'प्रकृति के साथ संघर्ष करके मनुष्य आगे बढ़ सकता है।' यह संघर्ष करते - करते मनुष्य ने प्रकृति को अपने वश में कर लिया है और उसका अंधाधुंध दोहन किया है। फलस्वरूप मनुष्य का जीवन संकटग्रस्त हो गया है। प्राकृतिक संसाधनों के अत्यधिक दोहन से पर्यावरण का हास हुआ है।

4.3.1 पर्यावरण विमर्श: सामान्य परिचय

औद्योगिक क्रांति के साथ ही ऊर्जा के संसाधनों की मांग बढ़ी। इस क्रांति के जनक देशों ने अपने उपनिवेश देशों से ऊर्जा के इन साधनों का दोहन किया। 'सेवन सिस्टर्स आयल कम्पनी' जैसी कम्पनी बनाकर यूरोपीय देशों ने मध्य - पूर्व के देशों से ऊर्जा प्राप्त की। उनका नारा था 'कंट्रोल नेचर' मतलब प्रकृति को वश में करना तथा प्राकृतिक संसाधनों का दोहन करना। इस सोच ने प्रकृति तथा मनुष्य के बीच के सहजीवी संबंध को खत्म किया। इस संबंध के टूटने से प्राकृतिक संतुलन बिगड़ा जिसके आत्मघाती परिणाम हमारे सामने हैं। एक तरफ जहां प्राकृतिक संसाधनों में कमी आती जा रही है वहीं दूसरी तरफ पर्यावरण प्रदूषण तथा असंतुलन बढ़ता जा रहा है। जलवायु परिवर्तन तथा पृथ्वी का तापमान बढ़ने जैसी गम्भीर समस्याओं से मानव जूझ रहा है।

पश्चिमी देशों में 1960 के दशक में ही खत्म होते प्राकृतिक संसाधनों की चिंता बढ़ने लगी थी। वैज्ञानिकों ने 'ग्रीन मूवमेंट' तथा 'ग्रीन डवलपमेंट' जैसी चीजें शुरू करके विकास की पूंजीवादी अवधारणा को चुनौती दी। वैकल्पिक तथा टिकाऊ विकास की अवधारणाओं की जरूरत महसूस की जाने लगी। पर्यावरणवादी आंदोलनकर्ताओं पूंजीवादी विकास की आलोचना करते हुए इसे मानव की सभ्यता, संस्कृति तथा पृथ्वी को विनाश की ओर ले जाने वाला विकास माना।

उदारिकरण की नीतियों के तहत बहुराष्ट्रीय कम्पनियों को स्थापित किया जा रहा है। जो विकास के नाम पर खेती की उपज बढ़ाने का लालच देकर किसान को पेस्टीसाइड्स की गिरफ्त में ले रही हैं। कीटनाशकों के अनावश्यक प्रयोग से एक तरफ जहां फसलों के मित्र कीट खत्म होते जा

रहे हैं वहीं पर्यावरण प्रदूषण भी बढ़ता जा रहा है। मनुष्य ने स्वयं ही अपने 'इको सिस्टम' को पूरी तरह तबाह कर लिया है, "पर्यावरण संकट मुख्यतः जैववैविध्यों का संकट और सामाजिक संकट के रूप में दृश्यमान है। औद्योगिकरण के बावजूद नयी - नयी कृषि योजनाएं एवं नए उद्योगों के आरम्भ के लिए जंगलों एवं कृषिभूमियों को तहस नहस करने से संसार के जैववैविध्य के अधिकांश भाग गायब हो गये। इसी वजह से प्राकृतिक संतुलन को नुकसान हुआ। अनावृष्टि, सूखा, बढ़ता भौमताप जैसे जलवायु में आये परिवर्तन जैववैविध्य के नाश और पेट्रोल, कोयला आदि के सीमातीत प्रयोग की उपज है।"¹ जमीन में पेड़ों की जगह इमारतें उगने लगी हैं, शानदार फर्नीचर तथा दिखावे की चीजों के लिए जंगलों को खत्म किया जा रहा है। बदलती जीवनशैली में पानी का असीमित प्रयोग, बेपरवाह धुआं उगलती गाड़ियां तथा कुकुरमुतों की तरह उगती फैक्ट्रियां प्रकृति की कब्र पर खड़ी हो रही हैं। वातावरण में कच्ची फसलों तथा फूलों की महक की जगह धुएं, कूड़े तथा तेलों की बदबू फैल रही है। पक्षियों की चहचाहट की जगह मशीनों का शोर सुन रहा है। गांधी जी ने कहा था, "नेचर हैज़ इनफ फॉर एवरीबडीज नीड बट नोट फॉर एवरीबडीज ग्रीड"² मनुष्य के इसी लालच का परिणाम आज उसे भुगतना पड़ रहा है। पर्यावरण प्रदूषण से जीवन पर संकट बढ़ता जा रहा है। पशु - पक्षियों तथा मनुष्यों का जीना दुभर हो रहा है। लोग नए - नए रोगों से ग्रस्त हो रहे हैं। जैसे पंजाब में पेस्टीसाइड्स के अत्यधिक प्रयोग से पिछले सालों में कैंसर के रोगियों की संख्या बढ़ी है।

पर्यावरण के बिगड़ते संतुलन के कारण ही पिछले वर्षों में सूखा, बाढ़, बेमौसमी बरसात, पहाड़ों का टूटना - खिसकना, बादल फटना, भूकम्प, सुनामी, तुफान आदि बढ़े हैं जो जीवन को तबाह कर रहे हैं। बेमौसमी बरसात, बर्फ की आंधियां, बढ़ती गर्मी, हुदहुद, अलनीनो, सुनामी, हिम स्खलन आदि प्राकृतिक तबाही से जुड़े शब्द हैं। जलवायु परिवर्तन के कारण तेजी से पिघलते ग्लेशियरों के कारण पहले तो नदियों में बाढ़ आएंगी और बहुत जल्द वे सूख जाएंगी। समुद्र के बढ़ते जलस्तर के कारण बहुत सारे द्वीप डूब जाएंगे।

¹ के. वनजा, साहित्य का पारिस्थितिक दर्शन, वाणी प्रकाशन, दिल्ली, पृष्ठ - 100

² वही, पृष्ठ - 80

जलवायु परिवर्तन की समस्या किसी एक क्षेत्र या देश की समस्या नहीं है बल्कि यह पूरे विश्व की समस्या है। पर्यावरण हास के संकट से सभी देशों तथा क्षेत्रों के लोग जूझ रहे हैं। एक बहस पर्यावरणवादियों में शुरू से ही चल रही है कि पर्यावरण का मुद्दा स्थानीय होना चाहिए या भूमण्डलीय। एक मत इसे स्थानीय मानता है तथा दूसरा भूमण्डलीय। दोनों के अपने अलग - अलग तर्क हैं। देखा जाए तो पर्यावरण की कुछ समस्याएं स्थानीय हैं जबकि कुछ भूमण्डलीय, और दोनों के समाधान भी इसी आधार पर खोजे जाने चाहिए। मार्क्स के अनुसार, “प्रकृति कभी अकेले एक व्यक्ति का नहीं, बल्कि आर्थिक उत्पादन में मिलकर काम करने वाले मनुष्यों का सामना करती है। इसी तरह एक व्यक्ति भी प्रकृति का सामना नहीं करता, बल्कि समाज के द्वारा संगठित रूप में उसका सामना करता है।”¹ इतनी सारी समस्याओं के बावजूद पर्यावरण के बचाव के सवाल विकास के नाम पर गौण हो जाते हैं। पर्यावरण को बचाने के लिए इस पर अंतर्राष्ट्रीय सम्मेलन होते हैं, जिसमें पर्यावरण को बचाने की बजाय सभी देश अपने आपको तथा अपने विकास के मॉडल को बचाने की कवायद अधिक करते हैं।

पर्यावरण को बचाने तथा जीवन को रोगमुक्त बनाने के लिए जैविक खेती, जैव संशोधित बीजों तथा जैविक खादों का प्रयोग बढ़ा है। बाजार में दैनिक प्रयोग के लिए जैविक चीजें आने लगी हैं। स्वास्थ्य के प्रति सचेत होकर लोग खाने - पीने के शुद्धिकरण की पद्धतियों को अपनाने लगे हैं, जिसके चलते आर. ओ. का प्रयोग बढ़ा है। समय - समय पर पर्यावरण को बचाने के लिए विश्वस्तर पर अनेक सम्मेलन हुए हैं। 2009 में डेनमार्क के शहर कोपेनहेगन में जलवायु सम्मेलन, 2011 में दक्षिण अफ्रिका के डरबन शहर में पर्यावरण सम्मेलन तथा 2015 में पेरिस में हुआ जलवायु सम्मेलन प्रमुख हैं। लेकिन पर्यावरण को बचाने के लिए विश्वस्तर पर जो प्रयास किए गए हैं उनमें विकसित तथा विकासशील दोनों ही देशों की सकारात्मक भूमिका नजर नहीं आती। जिसका प्रभाव पर्यावरण आंदोलनों, कार्यकर्ताओं तथा पर्यावरण की समस्याओं पर लिखने - बोलने वालों पर पड़ रहा है।

¹ पंकज विष्ट (सम्पा.), समयांतर, नरेश कुमार का लेख, फरवरी - 2012, पृष्ठ - 27

नष्ट होती प्रकृति को बचाने के लिए बहुत से लोगों ने समय - समय पर तथा निरंतर स्वतंत्र आंदोलन चलाए हैं। पर्यावरण संबंधी इन आंदोलनों में चिपको आंदोलन, नर्मदा बचाओ आंदोलन (मेधा पाटेकर ने 1985 में 'नर्मदा बचाओ' आंदोलन शुरू किया।), चिलका झील बचाओ आंदोलन मुख्य हैं। अरुंधति राय ने 1999 में 'वैली फार दी वैली' अभियान चलाया। 'जलपुरुष' राजेन्द्र शर्मा द्वारा राजस्थान में 'जल बचाओ' आंदोलन चलाया जा रहा है। आज के दिन भी जल बचाने के लिए तथा प्रदूषण रोकने के लिए अनेक आंदोलन चल रहे हैं।

भारत डोगरा का मानना है कि पर्यावरण आंदोलन को व्यापक रूप देकर ही पर्यावरण का संरक्षण किया जा सकता है लेकिन यह इसलिए नहीं हो पा रहा क्योंकि इसका जन - आधार व्यापक नहीं है, "भूमण्डलीय स्तर पर पर्यावरण के आंदोलन का जन - आधार इस कारण व्यापक नहीं हो सका है कि इसमें न्याय तथा समता के मुद्दों का उचित ढंग से समावेश नहीं हो पाया है। दुनिया की आधी से अधिक जनसंख्या अपनी बुनियादी जरूरतों को भी ठीक से पूरा नहीं कर पाती है। लोगों से बार - बार केवल यह कहना कि पेट्रोल और गैस के या विशेष तरह के उत्पादों के उपयोग को कम करना है, एक तरह से अर्थहीन है, क्योंकि वे तो रोटी - कपड़ा - मकान जैसी बुनियादी जरूरतों को भी ठीक से पूरा नहीं कर पा रहे हैं। पर्यावरण रक्षा और जलवायु परिवर्तन की इस पूरी बहस में उनके लिए क्या है?"¹ देश की गरीब जनता को इससे जोड़ने के लिए उनके मुद्दों को शामिल करना बेहद जरूरी है इस संदर्भ में रामचंद्र गुहा भारत के पर्यावरण को 'गरीबों का पर्यावरणवाद' कहते हैं। क्योंकि यह गरीबों के पेट भरने का साधन है।

जलवायु परिवर्तन की समस्या से निपटने के लिए इसमें न्याय तथा समता के मूल्यों का समावेश जरूरी है। इस आंदोलन से लोगों की बुनियादी जरूरतों को पूरा करने की योजना को जोड़ना होगा। तभी लोगों को गरीबी तथा अभाव से राहत मिल सकती है और आंदोलन को भी व्यापक जनसमर्थन तभी मिलेगा, "औद्योगिक एवं तकनीकी विस्फोट के कारण जहां बहुमुखी विकास की संभावना का द्वार खुले हैं, वहीं विध्वंस और विनाश की आशंका भी उसी अनुपात में

¹ रमेश उपाध्याय, संज्ञा उपाध्याय (सम्पा.), पूंजीवादी विकास और पर्यावरण आंदोलन, शब्दसंधान प्रकाशन, दिल्ली, पृष्ठ - 27

सिर उठाने लगी है। अनेक प्राकृतिक एवं मानवीकृत आपदाएं आज हमारे सामने हैं। दोनों प्रकार की आपदाएं प्रश्नचिन्ह बनकर फन उठाए खड़ी हैं और उन्हें हल करना एक बड़ी चुनौती है।”¹ पर्यावरण के हास को रोकने तथा जीवन को बचाने के लिए ग्रीनहाउस गैसों के उत्सर्जन को कम किया जाना चाहिए। अधिक से अधिक पेड़ लगाकर वनों को विकसित किया जाना चाहिए।

4.3.2 पर्यावरण संबंधी साहित्य एवं आलोचना

साहित्य निर्माण के लिए मनुष्य का बचा रहना जरूरी है और मनुष्य के लिए बचा रहना जरूरी है प्रकृति का। क्योंकि गर पेड़ - पौधे, पशु - पक्षी, हवा - पानी ही नहीं होगा तो कहां मनुष्य होगा और कहां साहित्य। प्राकृतिक संसाधनों से ऊपजे पर्यावरण संकट ने साहित्यकारों को प्रभावित किया और साहित्य में एक नया विमर्श उभरा।

पर्यावरण हास से जीवन पर आए संकट की चिंता साहित्य में अभिव्यक्त हुई है। संस्कृत साहित्य में जो प्रकृति साहित्य का आधार थी, भक्तिकाल और रीतिकाल में आलंबन तथा उद्दीप्पन का साधन बनी। आधुनिक काल में पर्यावरण हास के कारण प्रकृति के बारे में चिंता व्यक्त की जाने लगी। लहलहाती फसलों, झूमते वृक्षों, बहती नदियों के दृश्य की जगह आज साहित्य में फसलों के नष्ट होने, पेड़ों के कटने और नदियों के सूखने की चिंता है। प्रसाद की कामायनी में भीषण बाढ़ से पृथ्वी का विनाश, पर्यावरण पर मंडरा रहे खतरे की ओर इशारा है। अज्ञेय ने ‘हरी घास पर क्षणभर’ में प्रकृति के विरुद्ध मानव की कृत्रिमता को उद्धाटित किया है। त्रिलोचन प्रकृति के प्रति प्रेम व्यक्त करते हुए उसके हास के प्रति चिंतित है। मनुष्य द्वारा प्राकृतिक संसाधनों के अत्यधिक दोहन को कवि ‘नदी: कामधेनु’ में चित्रित करता हुआ कहता है, “नही ने कहा था: मुझे बांधो/ मनुष्य ने सुना और/ आखिर उसे बांध लिया/ बांधकर नदी को/मनुष्य दुह रहा है/अब वह कामधेनु है।”²

¹ लीलाधर मंडलोई (सम्पा.), नया ज्ञानोदय, अंक - 148, जून 2015, पृष्ठ - 48

² के. वनजा, साहित्य का पारिस्थितिक दर्शन, वाणी प्रकाशन, दिल्ली, पृष्ठ - 45

हिंदी के रचनाकारों ने रोज बनती बहुराष्ट्रीय कम्पनियों के फलस्वरूप फैलते प्रदूषण, बिगड़ते पारिस्थितिक तंत्र तथा लुप्त होते जीव - जंतुओं के प्रति अपनी रचनाओं में चिंता व्यक्त की है। विष्णुचंद्र शर्मा की कविता 'आख्यान' में सूखी नदी की उदासी तथा उसके सूखने का दुख व्यक्त हुआ है, "सूखी नदी ने/ न अपना दिल खोला/ न उदासी का बताया आख्यान/ बस, पत्थरों से बोलती रही/ बस अपना हाड़मास देखती रही/ मैंने कहा, 'नदी। मेरा दुख तुमसे छोटा है।'"¹

ज्ञानेंद्रपति ने नदियों में बढ़ते प्रदूषण तथा इसके दुष्प्रभावों का उल्लेख कविता में किया है। गंगा नदी के प्रदूषण को लेखक न केवल प्राकृतिक बल्कि सांस्कृतिक प्रदूषण भी मानता है। 'तुम्हारे लिए नहीं बची है कोई पवित्र नदी/ तुम्हारी सारी नदियां अपवित्र हो गई हैं - विषाक्त।' नदियों के प्रदूषण के साथ - साथ नदियों के किनारे बदलते दृश्यों तथा सांस्कृतिक बदलावों के प्रति कवि ने गहरी चिंता व्यक्त की है। गांवों के शहरों में तब्दील होने तथा उनकी मौलिकता नष्ट हो जाने को कवि ने 'गांव का घर और मिट गए मैदानों वाला गांव' शीर्षक कविता में व्यक्त किया है। नदियों के बदलते रूप तथा उनके स्वच्छ, साफ नदियों से गंदे नालों में परिवर्तित होना लेखकों को प्रभावित करता है। नदी को गंदा करने की हद को वीरेन डंगवाल अपनी कविता 'विद्वेष' में प्रकट करते हैं, "यह बूचखाना की नाली है/ इसी से होकर आते हैं नदी के जल में/ खून चरबी, रोयें और लोथड़े।"²

अरुण कमल पर्यावरण हास तथा इसके प्रभावस्वरूप मानव जाति पर आने वाले संकटों को लेकर चिंतित है। आधुनिक होते मनुष्य द्वारा अपनी जरूरतें पूरी करने के लिए लगातार किए जा रहे दोहन को वे पर्यावरण के लिए खतरा मानते हैं। 'इक्कीसवीं शताब्दी की ओर' शीर्षक कविता में कवि विकास की ओर उन्मुख मानव द्वारा नष्ट की जाने वाली चीजों के स्वरूप का चित्रण करता है। मानव लगातार परमाणु परिक्षण कर रहा है। नए - नए वैज्ञानिक अविष्कार करके एक ही झटके में पृथ्वी को नष्ट करने की शक्ति पैदा कर रहा है। कवि इसे 'दुःस्वप्न' कविता में चित्रित करता है।

¹ लीलाधर मंडलोई (सम्पा.), नया ज्ञानोदय, अंक - 148, जून - 2015, पृष्ठ - 48

² के. वनजा, साहित्य का पारिस्थितिक दर्शन, वाणी प्रकाशन, दिल्ली, पृष्ठ - 46

स्वप्निल श्रीवास्तव दूषित होती तथा रोज मरती पृथ्वी को बचाना चाहता है। पृथ्वी को बचाने के लिए कवि 'भूमि को बचाने के लिए' तथा 'पृथ्वी के लिए प्रार्थना' शीर्षक कविताएं लिखता है। कवि आने वाली पीढ़ियों के लिए पृथ्वी को सही - सलामत बचाना चाहता है और इसके लिए ईश्वर से प्रार्थना करता है। लुप्त होते वन्य जीवों विशेषकर हाथी की चिंता उनकी कविता 'इक्कीसवीं शताब्दी में हाथी' में व्यक्त हुई है।

धरती को बचाए रखने का प्रयत्न उदय प्रकाश ने अपनी कविता के माध्यम से किया है। उदय प्रकाश लुप्त होती चिड़िया तथा पहाड़ियों को अपनी स्मृति में बचाए हुए हैं। 'अर्जी' शीर्षक कविता में कवि अतीत हो चुके इन दृश्यों को बार - बार याद करता है। रसायनों के बढ़ते प्रयोग के खतरों से कवि हमें अवगत करवाता है। 'पंजाब कुछ कविताएं' में कवि ने बताया है कि पंजाब में कीटनाशकों तथा रसायनों के अंधाधुंध प्रयोग से अकेले पंजाब में ही कितने भोपाल बन चुके हैं। इस स्थिति पर सवाल उठाते हुए कवि कहता है, "कुल मिलाकर कितने यूनियन कार्बाइड हैं/ पंजाब में?/ बताओ प्रार्थना करते लोगों के फेफड़ों में/ कितना मिथाइल आइसोसायनेट हैं?/ बताओ/ पंजाब में/ कितने भोपाल हैं।"¹

विकास के नाम पर हुए त्वरित औद्योगीकरण तथा यंत्रिकरण ने मनुष्य को समेट दिया है। बहुमंजिला इमारतों तथा पुलों के निर्माण के लिए जंगलों, नदियों को नष्ट कर दिया गया है। वीरिन डंगवाल नष्ट हुई नदी के अभाव में पुलों को बेकार मानते हुए अपनी कविता में कहते हैं, "कितने अभागे हैं वे पुल/ जो सिर्फ गलियारे हैं/ जिनके नीचे से गुजरती नहीं/ कोई नदी।"²

मनुष्य के जीवन में यांत्रिकता के प्रवेश ने उसे कृत्रिम बना दिया है। कम्प्यूटर आधारित युग में वह अपनी संवेदनाएं खोता जा रहा है। कम्प्यूटर पर निर्भर मनुष्य की क्षमता पर कवि चंद्रकांत देवताले सवाल खड़े करता है, "अब तो मस्तिष्क है कम्प्यूटर के पास भी/ कविता लिख देगा कम्प्यूटर एक दिन/ पर क्या वसन्त/ या चिड़िया/ अथवा स्तनों से झरता झरना/ सम्भव है कभी

¹ उदय प्रकाश, रात में हारमोनियम, वाणी प्रकाशन, दिल्ली, पृष्ठ - 83

² वीरिन डंगवाल, दुष्क्रम में स्रष्टा, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, पृष्ठ - 19

कम्प्यूटर के गर्भ से भी।”¹ एक अन्य कविता ‘सांप सीढ़ी का खेल’ में कवि प्रकृति की गोद में बिताई बचपन की स्मृतियों को याद करता है तथा प्रकृति के हास को लेकर दुखी हो जाता है।

हिंदी के गद्य साहित्य में प्रकृति की सुंदरता के मनोरम दृश्य तथा पर्यावरण के हास की चिंता शामिल रही है। प्राकृतिक बदलाव के साथ बेरोजगारी, विस्थापन तथा तालाबों के सूखने के कारण उत्पन्न हुए जलसंकट की चिंता अनुपम मिश्र की पुस्तक ‘आज भी खरे हैं तालाब’ में प्रकट हुई है। पर्यावरण के बिगड़ते संतुलन तथा उसे बचाने के परम्परागत तरीकों का उल्लेख उनकी पुस्तक ‘साफ माथे का समाज’ में हुआ है। मिश्र जी का मानना है कि विकास नामक शब्द का आज दुरुपयोग हो रहा है, इस शब्द ने ही पर्यावरण का सबसे अधिक विनाश किया है।

टिहरी बांध परियोजना को आधार बनाकर लिखा गया वीरेंद्र जैन का उपन्यास ‘डूब’ बांधों के दुष्परिणाम तथा आम जनता पर इसके असर को उद्घाटित करता है। शहरों के लिए विद्युत उत्पादन के लिए बनाए गए बांधों से कितने ही हरे - भरे खेत नष्ट होते हैं तथा लोग विस्थापित होने को मजबूर होते हैं। बांध बनाने से खेती - बाड़ी, पशुपालन प्रभावित होता है नतीजतन बेरोजगारी की समस्या बढ़ती है और प्राकृतिक संतुलन बिगड़ता है, इन्हीं सब चीजों की चर्चा लेखक ने इस उपन्यास में की है। विकास के नाम पर लोगों को गुमराह तथा प्रकृति से छेड़छाड़ करने वालों को उपन्यासकार ने चेताया है।

नासिरा शर्मा का उपन्यास ‘कुइयांपन’ जल तथा नदियों की समस्या पर केन्द्रित है। जल की लड़ाई आज व्यक्ति से लेकर देशों तक में चल रही है। लेखिका भौतिक विकास के कारण प्रकृति तथा मनुष्य की घटती परस्परता को पर्यावरण हास का प्रमुख कारण मानती है। खत्म होते जल स्रोतों को बचाने तथा पानी को प्रयोग करने की कला सीखने पर लेखिका जोर देती है। जीवन में नदियों की भूमिका का चित्रण उपन्यास में भली - भांति किया गया है।

संजीव मानव जीवन की समस्याओं पर केन्द्रित रचनाओं के लिए जाने जाते हैं। इनके दो उपन्यास ‘धार’ तथा ‘सावधान नीचे आग है’ पर्यावरण प्रदूषण के प्रति चिंता व्यक्त करते हैं। ‘धार’

¹ चंद्रकांत देवताले, भूखण्ड तप रहा है, संभावना प्रकाशन, दिल्ली, पृष्ठ - 14 - 15

उपन्यास में बांसबाड़ा गांव में तेजाब का कारखाना खुलने के फलस्वरूप जलते पेड़ - पौधों, फसलों यहां तक की मनुष्यों की स्थिति का वर्णन लेखक ने किया है। तेजाब के कारखाने की जहरीली हवा से जंगल मुरझा गए हैं, फसलें सूख गई हैं, लोग भयानक रोगों से पीड़ित हो रहे हैं। 'सावधान नीचे आग है' कोयला खदान पर आधारित उपन्यास है। चंदनपुर में अंग्रेजी शासन में प्रारम्भ हुए कोयला खदान में 1916 से 1954 तक आग लगी रहती है, जिसमें कितने ही लोग जलकर मर जाते हैं, गांव वालों का जीना मुहाल हो जाता है। एक अन्य उपन्यास 'जंगल जहां शुरु होता है' में संजीव जंगल तथा जनजातियों की सुरक्षा का सवाल उठाते हैं।

सुभाष पंत का उपन्यास 'पहाड़ चोर' पहाड़ों की चोरी तथा जंगलों की कटाई करने वाले देशी पूंजीपतियों का पर्दाफाश करता है। प्राकृतिक संपदा की लूट की राजनीति का खुलासा सुभाष पंत बेबाकी से करते हैं। 'झंडूखाल' नामक पहाड़ी गांव में पहाड़ की लूट तथा उत्पात के खिलाफ विद्रोह का उपन्यास है। देश की तरक्की के नाम पर पहाड़ी लोगों के पहाड़ तथा जीवन को छीन लेने की साजिश को पहचानकर लेखक ने विरोध दर्ज किया है। उजड़ते गांव तथा त्रस्त लोगों को बचाने के लिए वहां के कुछ लोग आंदोलन करते हैं जो पर्यावरण को बचाने का एक अच्छा संकेत है।

रणेंद्र का 'ग्लोबल गांव के देवता' पहाड़ के खनन तथा प्रभावित आदिवासी जीवन पर केन्द्रित उपन्यास है। मनमोहन पाठक का 'गगन घटा घहरानी', भगवानदास मोरवाल का 'काला पहाड़', तेजन्दर का 'काला पादरी', श्री प्रकाश मिश्र का 'बांस फूलते हैं' आदि पर्यावरण ह्रास तथा आदिवासी जीवन पर केन्द्रित उपन्यास हैं। इसके अलावा मैत्रेयी पुष्पा का 'इदन्मम', उदयप्रकाश का 'पीली छतरी वाली लड़की', संजीव का 'रह गई दिशाएं इसी पार', अलका सरावगी का 'एक ब्रेक के बाद', मृदुला गर्ग का 'कठगुलाब' आदि उपन्यास अप्रत्यक्ष रूप से पर्यावरण के प्रति चिंता व्यक्त करते हैं।

उपन्यासों की भांति हिंदी कहानी में भी पर्यावरण का सवाल उठा है। राजेश जोशी की कहानियां 'कपिल का पेड़' तथा 'मैं हवा पानी परिदा कुछ नहीं' में मनुष्य तथा प्रकृति की

परस्परता तथा विकास के नाम पर पर्यावरण हास के संकटों पर चर्चा करती हैं। मनुष्य तथा प्रकृति की बदलती स्थिति को ये कहानियां रेखांकित करती हैं।

स्वयं प्रकाश की कहानियां 'बली' तथा 'कहां जाओगे बाबा' में शहर में तब्दील होते गांव तथा खत्म होते जीवन मूल्यों के कारण उत्पन्न हुई समस्याओं को व्यक्त करती हैं। पहाड़ी प्रदेश पर रचित संजीव की 'आरोहण' कहानी जीवन के उतार - चढ़ावों की कहानी है जिसमें प्रकृति प्रदत्त कौशल को प्रशिक्षण से बेहतर बताया गया है।

पर्यावरण के हास तथा इसके बचाव का मुद्दा पिछले कुछ समय से साहित्य में उठने लगा है। लेकिन पर्यावरण का सवाल साहित्य का केन्द्रीय सवाल नहीं बन पाया है। यह देखने की जरूरत है कि यह सवाल कितना तथा कितनी गुणवत्ता के साथ साहित्य में उपस्थिति बना पाया है।

हिंदी साहित्य की भिन्न - भिन्न विधाओं में पर्यावरण के संदर्भ में जो उल्लेख मिलता है उसकी थाह काफी हद तक हिंदी आलोचकों ने ली है। स्थापित आलोचकों के साथ - साथ नए उभरते आलोचकों ने पर्यावरण केन्द्रित लेखन तथा लेखन की समीक्षा दोनों किया है, लेकिन यह समीक्षा छिट - पुट लेखों में ही अधिक हुई है। पारिस्थिकी पर केन्द्रित रचनाओं की समीक्षा सुनीता नारायण, अरुंधती राय, भारत डोगरे, के. वनजा आदि ने की है। रमेश उपाध्याय, मैनेजर पाण्डेय, रोहिणी अग्रवाल आदि पारिस्थितिक तंत्र तथा साहित्य में इसकी मौजूदगी को खोजने वाले आलोचक हैं।

के. वनजा की 'साहित्य का पारिस्थितिक दर्शन' पर्यावरणवादी आलोचना की महत्वपूर्ण पुस्तक है। जिसमें लेखक ने हिंदी के पुराने तथा स्थापित लेखकों की रचनाओं में प्रकृति के अलग - अलग रूपों को इस संदर्भ में व्याख्यायित किया है। लेखक ने रविंद्रनाथ टैगोर, अज्ञेय, प्रेमचंद आदि के साहित्य में पर्यावरणीय मुद्दों की उपस्थिति को रेखांकित करते हुए समकालीन लेखन में हुए उसके विकास तथा गम्भीरता का नोटिस लिया है। समकालीन हिंदी कविता तथा कथासाहित्य में पर्यावरण हास के कारणों तथा उसके प्रभाव को लेखक ने बारीकी से खोजा है।

भूमण्डलीकरण के बाद आई नीतियों तथा उसके पर्यावरण पर प्रभाव को आलोचकों ने समझा है तथा समय - समय पर इस पर आलोचनात्मक लेख लिखे हैं। रणेंद्र के उपन्यास पर टिप्पणी करते हुए रोहिणी अग्रवाल कहती हैं, “रणेंद्र ने ‘ग्लोबल गांव के देवता’ उपन्यास में विस्तार से बहुराष्ट्रीय कम्पनियों के रूप में उभरे नवऔपनिवेशिक साम्राज्य की सर्वभक्षी ‘भूख’ को चित्रित किया है। विडंबना यह है कि देश की राजनीतिक प्रभुसत्ता अंतरराष्ट्रीय संस्थाओं/बैंकों से ऋण लेने के लिए अनहोनी को नजरअंदाज करने के लिए बाध्य है।”¹

4.4. साम्प्रदायिकता

साम्प्रदायिकता ने समाज के साथ - साथ साहित्य को भी प्रभावित किया। साम्प्रदायिकता से प्रभावित तथा चिंतित साहित्यकारों ने इसे अपने लेखन में उतारा है। साम्प्रदायिकता के बढ़ते प्रभाव को साहित्यकारों ने गहराई से महसूस किया तथा उसे व्यक्त भी किया है। भारत की सांझी परम्पराओं तथा धर्मनिरपेक्षता पर मंडरा रहे साम्प्रदायिक खतरे को साहित्यालोचना ने बखूबी पहचाना है तथा इस पर अपनी चिंता जाहिर की है। साम्प्रदायिकता के विकारों को आलोचकों ने स्पष्ट तौर पर रेखांकित किया है।

4.4.1 साम्प्रदायिकता: सामान्य परिचय

सम्प्रदाय अंग्रेजी के Community शब्द का पर्याय है, जिसे समुदाय भी कहते हैं। सम्प्रदाय शब्द का प्रयोग धार्मिक संदर्भ में किया जाता है। धर्म संबंधी मत या मत के अनुयायियों के समूह को सम्प्रदाय कहते हैं। इतिहासकार विपिन चन्द्रा साम्प्रदायिकता को एक मिथ्या विचार मानते हुए कहते हैं कि “साम्प्रदायिकता एक मिथ्या विचारधारा है, लेकिन जहां विचारधारा का विकास नहीं होता वहां झूठी विचारधारा ही उस रिक्त की पूर्ति करती है। यह यथार्थ का विकृत डिस्टोर्टिड और भ्रष्ट पर्वस रिफ्लेक्शन है।”²

¹ रोहिणी अग्रवाल, समकालीन हिंदी उपन्यास और पारिस्थिकीय संकट, गद्यकोश से 11.5.2016

² विपिन चन्द्रा, कम्युनलिज्म इन माडर्न इंडिया, विकास पब्लिकेशन्स, दिल्ली, पृष्ठ - 79 - 80

विश्वनाथ प्रसाद चौधरी के अनुसार “सम्प्रदायवाद मूलतः राज्य - व्यवस्था में एक प्राथमिक एवं निर्णयात्मक समूह के रूप में किसी समुदाय के प्रति राजनीतिक निष्ठा की एक विचारधारा है।”¹

प्रभुत्वशाली वर्ग के लिए साम्प्रदायिकता एक ऐसी अवधारणा है जो एक ही धर्म से संबंध रखने वाले लोगों के राजनैतिक, सामाजिक, सांस्कृतिक एवं आर्थिक हितों को एक समान मानती है। जबकि वास्तव में ऐसा होता नहीं है, एक धर्म से संबंध रखने वाले लोगों के राजनैतिक एवं आर्थिक संबंध बिल्कुल भिन्न या शत्रुतापूर्ण भी हो सकते हैं। साम्प्रदायिक शक्तियां अपने वर्गीय हितों को समूचे समुदाय के सामूहिक हितों के रूप में प्रस्तुत करती है।

प्रभु - वर्ग के लिए उपयोगी तथा जनसाधारण के लिए तकलीफदेह साम्प्रदायिकता का बर्बर रूप बाबरी - मस्जिद विध्वंस (1992) तथा 2002 के गुजरात दंगों में सामने आया। धीरे - धीरे साम्प्रदायिकता की इस समस्या ने विकट रूप धारण कर लिया। बहुत धीरज और मेहनत से अर्जित हमारी एकता अब खण्डित होती जा रही है। साम्प्रदायिक शक्तियां वर्गीय पहचान को सम्प्रदाय की पहचान के रूप में पेश करती हैं तथा वर्ग - संघर्ष को सांप्रदायिक संघर्ष के रूप में साधारण जन के दिमाग में साम्प्रदायिक जहर उतार दिया गया है, “दुष्प्रचार से यह लोगों की सामान्य चेतना का हिस्सा बना दी गई है। आम लोग ऐसी प्रतिक्रिया देते हैं जो साम्प्रदायिकता को मान्यता देती है। उनको इसमें कुछ भी गलत नहीं लगता, सबसे चिन्ता की बात यही है कि इसे धर्म - प्रेम, राष्ट्र - प्रेम व संस्कृति - प्रेम व इतिहास - प्रेम के नाम पर पेश करते हैं।”² गौर किया जाए तो, “साम्प्रदायिकता एक राजनैतिक दृष्टिकोण है जिसमें यह माना जाता है कि एक धार्मिक समुदाय के सभी लोगों के सामाजिक, राजनैतिक, आर्थिक व धार्मिक हित एक जैसे होते हैं।”³ जबकि, “भारतीय समाज कई ऐसे सम्प्रदायों में बंटा हुआ है जिनके हित न सिर्फ अलग हैं, बल्कि एक - दूसरे के विरोधी भी हैं।”⁴ असगर अली इंजीनियर साम्प्रदायिकता को आधुनिक युग की

¹ विश्वनाथ प्रसाद चौधरी, भारत में साम्प्रदायिकता, आरिएंट पब्लिकेशन्स, दिल्ली, पृष्ठ - 11

² डा. सुभाष चन्द्र, साम्प्रदायिकता, इतिहासबोध प्रकाशन, इलाहाबाद, पृष्ठ - 7

³ वही, पृष्ठ - 9

⁴ विपिन चन्द्रा, साम्प्रदायिकता: एक प्रवेशिका, नेसनल बुक ट्रस्ट इंडिया, दिल्ली, पृष्ठ - 3

घटना मानते हैं। उनके अनुसार, “साम्प्रदायिकता एक आधुनिक परिघटना है जो दो प्रमुख सम्प्रदायों के अभिजात वर्ग के बीच राजनैतिक सत्ता और आर्थिक प्रतिस्पर्धा के कारण पैदा हुई है।”¹

साम्प्रदायिक शक्तियों का उद्देश्य मात्र सत्ता में ज्यादा से ज्यादा हिस्सेदारी ही नहीं है बल्कि ज्यादा से ज्यादा मुनाफा कमाना भी इनका उद्देश्य रहा है, “पचास के दशक के दौरान कोई साम्प्रदायिक तनाव नहीं था, पर 1962 में जबलपुर में साम्प्रदायिक दंगे ने देश को हिला दिया। जबलपुर दंगा हिन्दू और मुस्लिम बीड़ी - निर्माताओं के बीच आर्थिक प्रतिस्पर्धा का परिणाम था।”² और साथ ही, “अलीगढ़ में ताला - उद्योग और मुरादाबाद में तांबा उद्योग की प्रतिस्पर्धा के कारण तनाव पैदा हुआ।”³

विपिन चन्द्रा साम्प्रदायिकता को सिर्फ उपनिवेशवाद के अस्त्र के रूप में ही नहीं देखते बल्कि उनका मानना है कि प्रतिक्रियावादी शोषक वर्ग अपने हितों की पूर्ति के लिए साम्प्रदायिकता को एक अस्त्र के रूप में इस्तेमाल करता है। साम्प्रदायिकता के विकास का कारक वे प्रतिक्रियावादी शक्तियों को मानते हैं, “इन सबसे बढ़कर महत्वपूर्ण बात यह है कि साम्प्रदायिकता आर्थिक तथा राजनीतिक दृष्टि से प्रतिक्रियावादी सामाजिक राजनीतिक शक्तियों, अर्ध सामंती जमींदारों तथा भूतपूर्व अधिकारी तंत्र तथा औपनिवेशिक सत्ताधारियों के अस्त्र के रूप में विकसित हुई।”⁴

4.4.2 साम्प्रदायिकता संबंधी साहित्य एवं आलोचना

साम्प्रदायिकता को लेकर साहित्यकार इसके उदय से ही संवेदित रहे हैं। साम्प्रदायिकता के कारणों, विचारधारा, प्रभावों को साहित्यकारों ने अपनी रचनाओं में समग्रता से अभिव्यक्त किया है। साम्प्रदायिकता की मजबूती पर कमजोर होते मनुष्य को साहित्य ने सहारा दिया है। संकीर्णता

¹ असगर अली इंजीनियर, भारत में साम्प्रदायिकता: इतिहास और अनुभव (अनुदित - सुभाष चन्द्र), इतिहासबोध प्रकाशन, इलाहाबाद, पृष्ठ - 46

² वही, पृष्ठ - 17

³ वही, पृष्ठ - 133

⁴ विपिन चन्द्रा, आधुनिक भारत में साम्प्रदायिकता का विकास, हिंदी माध्यम कार्यान्वयन निदेशालय, दिल्ली, पृष्ठ - 606

तथा नफरत के खिलाफ हिंदी साहित्य अपनी संपूर्ण शक्ति बटोर कर खड़ा होता है। साहित्य साम्प्रदायिकता के मनुष्यता विरोधी रूप को पहचान कर सचेत तौर पर उसकी खिलाफत करता है। साहित्य में सआदत हसन मंटो, यशपाल, भीष्म साहनी, राही मासूम रजा, मोहन राकेश, की परम्परा को आगे बढ़ाते हुए कृष्णा सोबती, नासिरा शर्मा, शिवमूर्ति, वी. एन. राय, कमलेश्वर, दूधनाथ सिंह, भगवानदास मोरवाल, अलका सरावगी, विवेकी राय आदि ने साम्प्रदायिकता के विभिन्न पहलुओं को विभिन्न दृष्टिकोणों से चित्रित किया है। इनके साहित्य में न केवल साम्प्रदायिक राजनीति की सोच के प्रति चिंता है बल्कि साम्प्रदायिक विद्वेष फैलाने वाले तथ्यों की खोज का प्रयास है। साम्प्रदायिक संकीर्णता का अस्वीकार तथा विरोध इनकी रचनाओं में मौजूद है।

कमलेश्वर के उपन्यास 'कितने पाकिस्तान' में साम्प्रदायिक विमर्श को केन्द्र में रखकर उस पर विस्तृत चर्चा की गई है। सम्पूर्ण भारतीय इतिहास के सूक्ष्म विवेचन के साथ लेखक ने राजनीतिक स्वार्थों के फलस्वरूप हुए देश विभाजन पर सवाल खड़े किए हैं। भारत विभाजन के कारणों को उपन्यासकार अंग्रेजी साम्राज्यवाद में खोजता है जिसमें साम्प्रदायिक नीतियों को प्रश्रय दिया गया। भारत के विभाजन को साम्प्रदायिक नीति का परिणाम मानते हुए कमलेश्वर कहते हैं, "अंग्रेजों की सौदागर कौम के हाथों पांच हजार साल पुराना यह महादेश अपने इतिहास में पहली बार विभाजन का शिकार हुआ।"¹ लेखक चाहते हैं कि दुनिया में साम्प्रदायिक सौहार्द पैदा होना चाहिए ताकि रोज बनते पाकिस्तानों की परम्परा बंद हो।

'काला पहाड़' उपन्यास के लेखक भगवानदास मोरवाल समकालीन समय में देश में उपजी साम्प्रदायिकता की भावना से चिंतित हैं। देश की शांत तथा भोली - भाली जनता के दिलों में साम्प्रदायिकता का जहर घोलने वाली राजनीतिक ताकतों के कारण कथाकार बेचैन है। साम्प्रदायिक सौहार्द से परिपूर्ण मेवात जैसे अंचल में भी राजनैतिक स्वार्थों के लिए साम्प्रदायिक माहौल का निर्माण किया जा रहा है जो लेखक के लिए असहनीय है, "इस अंचल में हिंदू और

¹ कमलेश्वर, कितने पाकिस्तान, राजपाल एण्ड सन्ज, दिल्ली, पृष्ठ - 272

मुसलमान एक परिवार की तरह रहते आए हैं और उनमें कभी भी कोई साम्प्रदायिक झगड़ा नहीं हुआ।”¹

‘कलि - कथा: वाया बाइपास’ में अलका सरावगी ने राम जन्मभूमि के मसले को मुख्य रूप से उठाया है। साम्प्रदायिक वातावरण निर्माण करने वाली राजनैतिक प्रक्रिया को समझने का प्रयास उपन्यासकार ने किया है। लेखिका उपन्यास में साम्प्रदायिकता का सीधे तौर पर विरोध करती है और चाहती है कि राजनैतिक लालसाओं के लिए सांस्कृतिक धरोहर को उजाड़ा ना जाए, “उपन्यास धर्मांध शक्तियों की कटु आलोचना कर एक प्रतिरोधी स्वर उपस्थित कर एक ऐसी दुनिया तामीर करना चाहता है जहां मानव - मात्र के लिए प्रेम हो।”²

राम जन्मभूमि के विवाद के बाद उपजे भय तथा आतंक के माहौल को व्यक्त करता है विवेकी राय का उपन्यास ‘मंगल भवन’। राजनेताओं द्वारा योजनाबद्ध तरीके से करवाए गए दंगों का नुकसान हमेशा आम जनता ही उठाती है। सरकार की कूटनीति को लेखक अच्छी तरह पहचानते हुए कहता है, “मेरा दृढ़ विश्वास है कि स्वयं सरकार ही इस प्रकार अशांति और गड़बड़ी कराती है ताकि समस्यात्मक जटिलता पैदा हो और शांति तथा समाधान के लिए लोग उसके पास चिल्लाते हुए आएँ..... यदि वह ऐसा न करे, कोई समस्या न रहे तो सरकार किसलिए?”³ लेखक चाहता है कि लोग सरकार पर आश्रित न रहकर अपने विवेक से काम ले तो देश को साम्प्रदायिकता से मुक्त करके ‘मंगल भवन’ बनाया जा सकता है।

साम्प्रदायिकता ने कहानीकारों को काफी हद तक प्रभावित किया है। हिंदी में सुधा अरोड़ा की कहानी ‘काला शुक्रवार’ मुंबई में हुए बम विस्फोट के बाद एक वर्ग में पैदा हुए खौफ (मुस्लिम परिवारों में) तथा दूसरे वर्ग की असंवेदनशीलता को दर्शाती है। धर्म तथा साम्प्रदायिकता के गठजोड़ को आधार बनाकर लिखी गई प्रहलादचंद्र दास की कहानी ‘मंदिर का मैदान’ धर्म के नाम पर लोगों को लड़वाने की कुटिल चालों का पर्दाफाश करती है। असगर वजाहत की कहानी ‘मैं

¹ भगवानदास मोरवाल, काला पहाड़, राधाकृष्ण प्रकाशन, दिल्ली, पृष्ठ - 16

² पुष्पपाल सिंह, भूमंडलीकरण और हिंदी उपन्यास, राधाकृष्ण प्रकाशन, दिल्ली, पृष्ठ - 251

³ विवेकी राय, मंगल भवन, प्रभात प्रकाशन, दिल्ली, पृष्ठ - 490

हिंदू हूँ' साम्प्रदायिक दंगों के प्रभावस्वरूप टूटते सामाजिक ताने - बाने का वर्णन करती है। ये कहानियां दंगों की भयावहता से ज्यादा उनसे प्रभावित भयग्रस्त अल्पसंख्यकों की स्थिति का वर्णन करती हैं, “ये कहानियां इस सच्चाई को दर्शाती हैं कि इस दौर का साम्प्रदायिक तनाव महज दो धार्मिक समुदायों के बीच आम तौर पर होने वाले हिंसक झगड़े का परिणाम नहीं था बल्कि साम्प्रदायिक फासीवाद की उस हिंसक मुहिम का नतीजा था जो अल्पसंख्यकों के विरुद्ध भय और आतंक का माहौल पैदा कर उनके नागरिक अधिकारों को ही नहीं मनुष्य के रूप में जीने के अधिकारों को भी छीन लेती है।”¹ प्रगतिशील वसुधा में छपी विमल चंद्र पाण्डेय की कहानी ‘सोमनाथ का टाइम - टेबल’ जाति और धर्म के गठजोड़ के परिणाम में साम्प्रदायिकता को देखती है। राकेश दूबे की कहानी ‘नया मकान’, मज्कूर आलम की ‘बस यहां तक’, जिनेश साह की ‘चमक धूप की’, प्रियदर्शन की ‘खोटा सिक्का’ आदि कहानियां समाज में व्याप्त कट्टरता को उद्घाटित करती हैं।

साम्प्रदायिकता की पृष्ठभूमि को आधार बनाकर हिंदी कवियों ने अनेक कविताएं लिखी हैं, जो धार्मिक कट्टरता तथा उन्माद से उपजे भय तथा त्रासदी को सीधे तौर पर व्यक्त करती हैं। साम्प्रदायिकता से प्रभावित तथा इसके विरोध में लिखी गई रचनाओं में विशेष तौर से कुंवर नारायण की कविता ‘एक अजीब - सी मुश्किल’ तथा बोधिसत्व की कविता ‘पागलदास’ है, पागलदास अयोध्या का पखावज - वादक था। कविता में पागलदास की उदासी मनुष्यता की जुबान बनी। असद जैदी की कविता ‘जो देखा नहीं जाता’ साम्प्रदायिकता के जाल में फंसे व्यक्ति की मनःस्थिति का खाका पेश करती है। जयपाल की कविता ‘लक्कड़ - बग्घा’ में राजनीति तथा न्याय तंत्र की लाचारगी दिखाई गई है जिसके चलते साम्प्रदायिक लक्कड़बग्घा चुन - चुनकर जनता को मार रहा है और देशभक्ति का तमगा पा रहा है। साम्प्रदायिकता का यह लक्कड़बग्घा, “किसी की पकड़ में नहीं आता/ राष्ट्रपति, प्रधानमंत्री या सुप्रीम कोर्ट - सब इससे डरते हैं/ यह सारा काम योजनाबद्ध तरीके से करता है..... धर्मस्थल इसके सुरक्षित खेत हैं/ यह राष्ट्र की

¹ जवरीमल्ल पारख, आधुनिक हिंदी साहित्य: मूल्यांकन और पुनर्मूल्यांकन, पृष्ठ - 239

बात करता है/ राष्ट्रवासियों पर हमला करता है/ धर्म की बात करता है/ और दंगों में शामिल हो जाता है..... संतों का चोला पहनता है/ और लक्कड़बग्घा हो जाता है।”¹ मंगलेश डबराल की कविता ‘गुजरात के एक मृतक का बयान’ कविता दंगों में आम आदमी के पिसे जाने को व्यक्त करती है, “मैं तो रंगता था कपड़े ताने - बाने रेशे रेशे/ मरम्मत करता था टूटी - फूटी चीजों की/ गढ़ता था लकड़ी की हिंडोले और गरबा के रंगीन डांडिए..... मेरे जीवित होने का कोई बड़ा मकसद नहीं था/ और मुझे मारा गया इस तरह जैसे मुझे मारना कोई बड़ा मकसद हो.....।”² साम्प्रदायिकता के दौरान बने डर के माहौल को राजेश जोशी की कविता ‘मेरठ 87’ उजागर करती है।

साम्प्रदायिकता विरोधी साहित्य तथा आलोचना द्वारा सांझी संस्कृति की अपनी पहचान को स्थापित करने का प्रयास जारी है। साम्प्रदायिक सद्भाव एवं मानव एकता के संदर्भ में आलोचक तथा चिंतक हिंदी के मध्यकालीन लेखन की व्याख्या भी इस आधार पर करने लगे हैं। वर्चस्वशाली वर्ग की क्रूरता, पाखण्ड तथा आडम्बरों का खुलकर पर्दाफाश करने वाले कबीर को हिंदू मुस्लिम एकता के प्रहरी के रूप में देखा जाने लगा है। राजनैतिक, आर्थिक हितों के लिए आपस में नफरत फैलाने वालों को रोकने वाले गालिब तथा नानक के योगदान को रेखांकित किया जाने लगा है। साम्प्रदायिकता विरोधी चिंतन व्यक्ति को सजग तथा संवेदनशील बनाने पर बल देता है।

स्वतंत्रता प्राप्ति के साथ ही देश का विभाजन हुआ तथा धर्म के आधार पर बंटवारा हुआ, दो देश बने। साम्प्रदायिक दंगे हुए जिसने भारतीय जनमानस को झकझोर दिया। आबादियों का विस्थापन हुआ, शहर उजड़ गए, हजारों लोग मारे गए, लाखों लोग बिछुड़ गए। इतनी बड़ी त्रासदी से साहित्य तथा साहित्यकारों पर व्यापक असर पड़ा। यूरोप में हुए युद्धों की त्रासदी जिस तरह वहां के साहित्य को लम्बे समय तक प्रभावित करती रही उसी तरह हिंदी के साहित्यकारों तथा चिंतकों

¹ जयपाल, दरवाजों के बाहर, आधार प्रकाशन, पंचकूला, पृष्ठ - 83 - 84

² अजेय कुमार (सम्पा.), उद्भावना, अंक - 103, पृष्ठ - 81

को विभाजन ने प्रभावित किया और इसी कारण उनकी रचनाओं में बार - बार विभाजन की त्रासदी की चीख सुनाई देती रही है। 1984 में दिल्ली में हुआ सिख दंगा, 1992 में बाबरी विध्वंस, 2002 में गुजरात का गोधरा काण्ड, 2014 में मुज्जफरनगर दंगा आदि विभाजन के बाद साम्प्रदायिकता के नए रूप रहे। इन दंगों से साम्प्रदायिकता का स्वरूप बदला जो साहित्य में नए रूप में व्यक्त होने लगा।

साहित्य की रचना की तरह ही उसकी व्याख्या में विभाजन बार - बार आया है। आलोचकों तथा इतिहासकारों ने साम्प्रदायिकता की तह में जाकर साहित्य की व्याख्या की है। साम्प्रदायिक दंगों के लिए जिम्मेदार परिस्थितियों, कारणों तथा इनसे उत्पन्न भय, आतंक तथा नैराश्य को जिस रूप में रचनाकारों ने अपनी रचनाओं में व्यक्त किया है उसका वैज्ञानिक दृष्टि से मूल्यांकन आलोचना ने किया है। 'हिंदी उपन्यास का इतिहास' पुस्तक में लेखक ने साम्प्रदायिकता पर आधारित उपन्यासों की दृष्टि का विश्लेषण करते हुए लिखा है कि "हिंदी उपन्यासकार साम्प्रदायिक सोच और भावना की दृष्टि से उदार, मानवीय तथा प्रजातांत्रिक मूल्यों से परिचालित हैं।"¹

प्रियदर्शन की कहानी 'खोटा सिक्का' की बाबरी - विध्वंस के संदर्भ में समीक्षा करते हुए राकेश बिहारी कहते हैं, "इन घटनाओं के बाद भारतीय समाज में हुए परिवर्तनों - प्रतिक्रियाओं का बारीक विश्लेषण करते हुए अल्पसंख्यक समाज की अनकही पीड़ा, उसकी जद्दोजहद और किसी एक के बहाने पूरे समाज पर लगा दिए गए प्रश्न चिन्ह से उत्पन्न भय मिश्रित असमंजस और उन सब के बीच एक खास किस्म के असुरक्षाबोध को उद्घाटित करती है।"² साम्प्रदायिकता पर लिखी गई कविता की आलोचना में कहा गया है कि "साम्प्रदायिकता के बरक्स कविता में इसकी मुखालफत जरूरी भी थी और अपरिहार्य भी और यह कहना होगा कि हमारे कवियों ने यह भूमिका निभाई भी पूरी ताकत से। एकांत श्रीवास्तव की 'दंगे के बाद' हो, बोधिसत्व की 'पागलदास', या पवन करण की 'मुसलमान लड़के' या फिर गोधरा के बाद लिखी गई निरंजन श्रोत्रिय की कविता

¹ गोपालराय, हिंदी उपन्यास का इतिहास, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, पृष्ठ - 438

² शंकर (सम्पा.), परिकथा, अंक - 33 (युवा आलोचना अंक), जुलाई - अगस्त 2011, पृष्ठ - 94

‘जुगलबंदी’। इस दौर के लगभग सभी कवियों ने साम्प्रदायिकता के विरोध में बेहद सशक्त कविताएं लिखी हैं।”¹

हिंदी आलोचक नामवर सिंह ने अपनी पुस्तक ‘जमाने से दो - दो हाथ’ में साम्प्रदायिकता पर विस्तृत विचार - विमर्श किया है। साम्प्रदायिकता तथा राष्ट्रवाद के संबंध को समझते हुए धर्मनिरपेक्षता की भूमिका पर विचार किया गया है। फासीवाद का सौंदर्यशास्त्र, फासिस्ट हिंदुत्व और प्रगतिशील विचारधारा तथा फासीवादी भूमण्डलीकरण के दौर में संस्कृति के स्वरूप पर चर्चा है। भूमण्डलीकरण के प्रभाव में साम्प्रदायिकता के बदलते रूप को लेखक ने समझा तथा समझाया है।

4.4.3 साम्प्रदायिकता संबंधी साहित्य एवं आलोचना के प्रमुख मुद्दे

साम्प्रदायिक शक्तियों के प्राण इतिहास, धर्म, संस्कृति, भाषा, राष्ट्र आदि की विकृत व्याख्या में समाए हुए हैं। धार्मिक कट्टरता साम्प्रदायिक उन्माद को बढ़ावा देती है। गोरख पाण्डेय साम्प्रदायिकता को विरोधी समूहों की अवधारणा बताते हुए कहते हैं कि “यह धर्म, नस्ल के आधार पर मानव जाति के विभाजन और विभाजित समूहों की असमानता पर जोर देती है। एकता की जगह भेद, सहयोग की जगह विरोध और सार्वभौमिकता की जगह संकीर्णता इसके मूल तत्व होते हैं। ये सारे तत्व मानव - जाति की पहचान धुंधली करते हैं और उसके अस्तित्व के मूल तत्वों का निषेध करते हैं।”²

भारत में साम्प्रदायिक शक्तियां निरंतर अपना घेरा डाल रही हैं। साम्प्रदायिकता स्वतः स्फूर्त घटना नहीं है, समाज में विभिन्न धर्मों के होने से ही साम्प्रदायिकता पैदा नहीं होती। साम्प्रदायिकता धर्मों का आपसी झगड़ा नहीं है बल्कि यह कुछ वर्गों के राजनैतिक हितों की टकराहट है जिसमें धर्म का प्रयोग एक औजार के रूप में किया जाता है। साम्प्रदायिकता की आड़ में धर्म की सामाजिक समन्वय की भूमिका को खत्म किया जाता है। धर्म और साम्प्रदायिकता दोनों

¹ शंकर (सम्पा.), परिकथा, अंक - 33 (युवा आलोचना अंक), जुलाई - अगस्त 2011, पृष्ठ - 100

² अभय कुमार दुबे (सम्पा.), साम्प्रदायिकता के स्रोत, गोरख पाण्डेय के लेख ‘धर्म, संस्कृति और साम्प्रदायिकता’ से, पृष्ठ - 196

का अर्थ तथा स्वरूप पूरी तरह से भिन्न है लेकिन राजनैतिक स्वार्थों के लिए धर्म का प्रयोग उसे साम्प्रदायिक बनाता है, “साम्प्रदायवाद किसी खास धार्मिक समुदाय को ही एकमात्र अपनी राजनीतिक महत्वाकांक्षा एवं गतिविधि का समष्टि रूप एवं आधार समझता है। सम्प्रदायवाद एक राज - व्यवस्था तथा एक राष्ट्र के अंदर अन्य धार्मिक समुदायों के प्रत्यक्षतः प्रतिकूल हस्ती के सरूप में चित्रित करता है, जिसके फलस्वरूप एक दूसरे के प्रति अमैत्रीपूर्ण, वैमनस्यता तथा दुश्मनागत की भावना संगठित करता है। सम्प्रदायवाद एक राजनीतिक अभिमुखता है जो अपनी राजनीतिक निष्ठा की मंजिल धार्मिक समुदाय को समझता है, न कि राष्ट्र या राज्य को। सम्प्रदायवाद एक ऐसी राजनीतिक निष्ठा है, एक ऐसी राजनीति है, जो बहुजातीयता एवं बहुधार्मिक समुदाय से युक्त राष्ट्रवाद के विरुद्ध है।”¹

धार्मिक समुदाय में निष्ठा एवं सम्बद्धता साम्प्रदायिकता नहीं है, यह धर्म की एक सामान्य प्रवृत्ति है। धर्म दुख, अभाव एवं पराधीनता की शिकार जनता को सुख एवं स्वतंत्रता का अहसास दिलाने का एक काल्पनिक साधन है। असहाय व्यक्ति अपनी वंचित इच्छाएं, उम्मीदें, सपने धार्मिकता में खोजता है। इसीलिए धर्म के नाम पर लोगों में उत्तेजना तथा आवेश आसानी से भरा जा सकता है, उन्हें धर्म की हानि का भय दिखाकर बहुत आसानी से इक्का करके दूसरे धर्म या समुदाय से लड़वाया जा सकता है। साम्प्रदायिकता निहित राजनीतिक स्वार्थों के लिए लोगों के धार्मिक विश्वास का शोषण करती है। राजनीतिक स्वार्थों की पूर्ति में धर्म साम्प्रदायिकता का रूप लेता है। जबकि, “धर्म व्यक्ति का निजी मामला है, हर व्यक्ति को यह अधिकार होना चाहिए कि वह किसी भी धर्म अथवा धर्म - पद्धति का अनुसरण करे, किन्तु उसकी धर्म पद्धति किसी दूसरी धर्म पद्धति वाले के आड़े नहीं आनी चाहिए।”²

एक धर्म के अनुयायी दूसरे धर्म से भिन्न मान्यताएं रखता है तथा दूसरे धर्म की धारणाओं के प्रति संदेह, उपेक्षा तथा नकार का भाव रखता है। इस प्रकार धर्म परस्पर संकीर्णता तथा एकांगीपन के साम्प्रदायिक दृष्टिकोण को अपनाता है। व्यक्ति इंसान न रहकर हिंदू, मुस्लिम, सिख,

¹ विश्वामित्र प्रसाद चौधरी, भारत में साम्प्रदायिकता, आरियंट पब्लिकेशन्स, दिल्ली, पृष्ठ - 11

² रविंद्र शर्मा, बीसवीं शताब्दी के अंतिम दशक के हिंदी उपन्यासों में जीवन दृष्टि, के. के. पब्लिकेशन्स, दिल्ली, पृष्ठ - 173

इसाई बन जाता है तथा अपने धर्म की रक्षा के नाम पर घृणा, हिंसा, विद्वेष तथा बर्बरता को उचित ठहराने लगता है। शासक वर्ग इस स्थिति का फायदा उठाकर अपना राजनैतिक उल्लू सीधा करता है।

रमेश उपाध्याय के अनुसार “सांप्रदायिकता विरोधी लेखन में नास्तिकता के बजाय एक सरकारी किस्म का - सा ‘सर्वधर्म समभाव’ नजर आता है, जबकि सांप्रदायिकता को नास्तिकता की जमीन से ही सही चुनौती दी जा सकती है।”¹ संविधान द्वारा भारत को धर्मनिरपेक्ष देश घोषित किए जाने के बाद भी यहां साम्प्रदायिक विचारधारा का लगातार विस्तार होता जा रहा है। देश में जनवादी, मानवतावादी शक्तियों की उपस्थिति के बावजूद साम्प्रदायिकता व्यावहारिक रूप में मौजूद है।

धर्म तथा संस्कृति के नाम पर राष्ट्रीयता को धर्म के साथ जोड़कर देखा जाता है। धर्म तथा राष्ट्रीयता के इस गठजोड़ से साम्प्रदायिकता का जन्म होता है। प्रेमचंद ने साम्प्रदायिकता को संस्कृति का आवरण ओढ़कर निकलने वाली बताया है, “साम्प्रदायिकता सदैव संस्कृति की दुहाई दिया करती है। उसे अपने असली रूप में निकलते शायद लज्जा आती है, इसलिए वह गधे की भांति है जो सिंह खाल ओढ़कर जंगल के जानवरों पर रोब जमाता फिरता था, साम्प्रदायिकता संस्कृति की खाल ओढ़कर आती है।”² साम्प्रदायिकता राष्ट्र के बहुलतावादी चरित्र को संकीर्णता के दायरे में बांधती है। फलस्वरूप हिंदू राष्ट्र, सिक्ख राष्ट्र आदि की मांग उठती है, “इस काल - खण्ड में वर्ग, वर्ण और धर्म भेद बहुत गहरा हुआ है। समाज की बिल्कुल नई पीढ़ी के पास आकांक्षाओं का कोई नैतिकशास्त्र नहीं है।”³

साम्प्रदायिक शक्तियां साम्प्रदायिकता की जड़ें इतिहास में खोजती हैं और इसके लिए इतिहास को तोड़ - मरोड़ कर या तथ्यों को बदलकर पेश किया जाता है। जैसे इतिहास में मुस्लिम शासकों द्वारा हिंदू धर्मस्थलों की तबाही का तो वर्णन है पर यह वर्णन नहीं है कि, “औरंगजेब ने

¹ रमेश उपाध्याय, संज्ञा उपाध्याय, बाजारवाद और नयी सृजनशीलता, शब्दसंधान प्रकाशन, दिल्ली, पृष्ठ - 22

² सव्यसाची (सम्पा.), उत्तरार्ध, अप्रैल - 1980, पृष्ठ - 8

³ शंकर (सम्पा.), परिकथा, अंक - 33 (युवा आलोचना अंक), जुलाई - अगस्त 2011, पृष्ठ - 35

बनारस, उज्जैन आदि मंदिरों को जागीर दी थी।”¹ बंटवारे की वजह मुसलमानों को बताया जाता है लेकिन यह नहीं बताया जाता कि, “जब 23 मार्च, 1940 को लाहौर में पाकिस्तान प्रस्ताव पारित हुआ तो मुसलमानों ने कोई जोश नहीं दिखाया। दूसरी ओर हजारों अंसारी (जुलाहा) मुसलमानों ने दिल्ली में दो - तीन महीने बाद इसके विरुद्ध प्रदर्शन किया।”² साम्प्रदायिकतावादी अपने शासकों की प्रशंसा करते हैं तथा दूसरे सम्प्रदाय के शासकों की आलोचना। शासकों के चरित्र को किसी समुदाय विशेष के चरित्र के रूप में पेश किया जाता है।

साम्प्रदायिक शक्तियां लोगों को गुमराह करने के लिए तरह - तरह की अफवाहें फैलाती हैं, एक - दूसरे धर्म के प्रति भ्रांतियां पैदा की जाती हैं, “मुसलमान चार - चार शादियां करते हैं, इसका लगातार प्रचार करना और यह न बताना कि मुसलमानों में भी पुरुषों की बजाय स्त्रियों की कम संख्या सभी को एकाधिक शादियों की तथ्यात्मक इजाजत नहीं देती, सच के साथ खिलवाड़ करना ही है। हिन्दूस्तान टाइम्स में 27 जून, 1998 को छपे भारतीय सांख्यिकी संस्थान के द्वारा इकट्ठे किए गए तथ्यों के अनुसार 1000 में से 72 गैर - मुस्लिम एक से अधिक शादियां करते हैं। जबकि 1000 में से 15 मुस्लिम एक से अधिक शादियां करते हैं।”³ इसी तरह से साम्प्रदायिकता भय के वातावरण का निर्माण करते हुए मनुष्य के दिमाग में कुछ बातों को इस तरह से बैठा देती है कि वह उनके सामने निरीह हो जाता है। यह भय और कुंठा ही साम्प्रदायिकता का रूप ग्रहण करते हैं। आर्थिक, सामाजिक असुरक्षा आमजन में असंतोष और गुस्से को पैदा करती है। इस भय के माहौल में उनके दिमाग में एक बात बैठा दी जाती है कि दूसरे समुदाय का विनाश करके ही कोई समुदाय अपने अस्तित्व को बचा सकता है। साम्प्रदायिकता तथ्यों के साथ उसी क्रूरता के साथ खिलवाड़ करती है, जिस क्रूरता के साथ दंगों में बेबसों के जान - माल के साथ।

विपिन्न चन्द्रा साम्प्रदायिकता को फासीवाद का ही दूसरा रूप मानते हैं। जो अपनी जाति तथा सम्प्रदाय के अलग अस्तित्व और श्रेष्ठता चाहता है तथा उसके लिए बल प्रयोग करता है।

¹ असगर अली इंजीनियर, भारत में साम्प्रदायिकता: इतिहास और अनुभव (अनुदित - सुभाष चन्द्र), इतिहासबोध प्रकाशन, इलाहाबाद, पृष्ठ - 11

² वही, पृष्ठ - 96

³ विनय विश्वास, आज की कविता, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, पृष्ठ - 73 - 74

इसी से इसका विकास दर्शन या विचारधारा के रूप में होता है। फासीवाद से जन्मी साम्प्रदायिकता का अंत साम्प्रदायिक दंगों तथा आतंकवाद में होता है। परिनियोजित दंगे होते हैं और संवेदनहीनता से बहुत ही बर्बरता के साथ लोगों को मारा जाता है, स्त्रियों के साथ बलात्कार होते हैं।

कहा जा सकता है कि जिस रूप में बाजारवाद, पर्यावरण तथा साम्प्रदायिकता ने आलोचना को प्रभावित किया है उस रूप में किसान प्रभावित नहीं कर पाया है। बाजारवादी तंत्र तथा साम्प्रदायिकता के घिनोने रूप को आलोचना सामने लाती है, पर्यावरण संबंधी मुद्दों पर गम्भीरता से बात करती है लेकिन किसान के संकटों - संघर्षों के प्रति तत्परता यहां दिखाई नहीं देती। आलोचना में किसान के प्रति सहानुभूति तो है पर उसके लिए संघर्ष नहीं। बाजारवाद के फैलाव से खत्म होती मनुष्यता तथा राजनीतिक हितों के लिए फैलाई जाने वाली साम्प्रदायिकता का तीखा विरोध तथा मनुष्यता को बचाने की बेचैनी आलोचना में मौजूद है।